संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 और हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के कुछ उपबन्धों के बारे में

भारत के विधि आयोग की तिरासीवीं रिपोर्ट

26 अप्रैल, 1980

19.54/
10;2

संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 और हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के कुछ उपबन्धों के बारे में

भारत के विधि आयोग की तिरासीवीं रिपोर्ट

26 अप्रैल, 1980

न्यायमूर्ति पी० वी० दीक्षित ।

अ० शा० पत्र सं० 2(2)/80-एल०सी०

नई दिल्ली;
तारीख 26 अप्रैल, 1980

प्रिय मंत्री जी,

मैं इसके साथ विधि आयोग की 83वीं रिपोर्ट अग्रेषित कर रहा हूं जिसमें संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 के संशोधन के लिए और हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 के संशोधन के लिए प्रस्ताव हैं।

2. संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 आज से 90 वर्ष पहले अधिनियमित किया गया था । उसके अधिनियमित किए जाने के समय स्त्रियों को बहुत कम अधिकार थे। उनकी स्थिति सामाजिक और विधिक रूप से हीन थीं। उन्हें आर्थिक अनिश्चितता के साथ-साथ पुरुषों का दबाव और मिथ्या दम्भ भोगना पड़ता था। इस अधिनियम में संरक्षक की नियुक्ति करते समय अप्राप्तवय के कल्याण की ओर ध्यान दिया गया किन्तु अप्राप्तवय के संरक्षक की नियुक्ति और उनकी अभिरक्षा के मामले में पिता या पुरुष सदस्य की वरिष्ठता पर बल दिया गया।

3. आज की सामाजिक परिस्थिति में यह आवश्यक है कि माता-पिता बालकों का लालन-पालन इस प्रकार करें कि वे स्वस्थ्य हों, सुखी हों और अच्छी शिक्षा प्राप्त कर अच्छे व्यक्ति बनें तथा समाज के निर्माण में सक्रिय सहयोग दे सकें। संरक्षकता की विधि का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होना चाहिए कि बालक का इस प्रकार विकास हो। उसके हितों का संरक्षण केवल तभी हो सकता है जब अप्राप्तवय के संरक्षक की नियुक्ति में अप्राप्तवय का कल्याण पहली और सर्वोपरि ध्यान में रखने वाली बात हो। इसके अतिरिक्त और कोई बात ध्यान में न रखी जाए जैसे माता-पिता की वरिष्ठता । संरक्षक की नियुक्ति के समय न्यायालय को यह भी देखना चाहिए कि कौन सा दावेदार अपनी शैक्षणिक योग्यता और प्रभाव के कारण अधिक उपयुक्त है और अपने उदाहरण के कारण बालक के लालन-पालन में आवश्यक सतर्कता बरत सकता है। आयोग ऐसा समझता है कि विद्यमान संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम में आमूल परिवर्तन और पुनरीक्षण करने की आवश्यकता है जिससे कि नियुक्ति और अन्य संबद्ध मामलों में अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि ध्यान में रखा जाए। इस अधिनियम के कार्यकरण से भी बहुत से दोष और कमियां सामने आई हैं जिनसे अधिनियम के प्रशासन में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। इस अधिनियम के कुछ विधिक उपबन्धों को स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कुछ को विस्तृत करने की आवश्यकता है जबकि कुछ को और अधिक कसा जाना चाहिए।

4. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 में स्त्रियों की स्थिति में सुधार को स्वीकार करते हुए उन्हें संरक्षक नियुक्त किया जाने का अधिकार दिया गया है । उसमें संरक्षक की नियुक्ति के समय अप्राप्तवय के कल्याण को सर्वोपरि ध्यान में रखने की बात भी कही गई है । पिता के बाद माता को नैसर्गिक संरक्षक का स्थान देते हुए उसमें यह कहा गया कि पांच वर्ष से कम आयु के अप्राप्तवय की अभिरक्षा सामान्यतया माता को मिलेगी। हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 में परिवर्तन किया जाना चाहिए जिससे माता को अप्राप्तवय की अभिरक्षा 12 वर्ष की आयु पूरी करने तक मिले। माता को 12 वर्ष की आयु तक बालक की अभिरक्षा देना इसलिए आवश्यक है कि पिता बालक का उपयोग अपनी पत्नी पर दबाव डालने के लिए न कर सके। पति अपने माता-पिता या बहन के उकसाने पर या स्वयं ही दबाव डालने की प्रक्रिया अपना लेता

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
अध्याय 1	प्रारंभिक	1
अध्याय 2	संक्षिप्त इतिहास	7
अध्याय 3	वर्तमान विधि और 1890 के अधिनियम की स्कीम	8
अध्याय 4	प्रारम्भिक उपबन्ध : धारा 1 से 4	11
अध्याय 5	अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों को शक्ति का प्रदान किया जाना : धारा 4क	16
अध्याय 6	संरक्षक की नियुक्ति और घोषणा: धारा 5 से 19	17
अध्याय 7	संरक्षकों के कर्तव्य, अधिकार और दायित्व : धारा 20 से 37	47
अध्याय 8	संरक्षकता का पर्यवसान : धारा 38 से 42	61
अध्याय 9	पूरक उपबंध : धारा 43 से 51	64
अध्याय 10	संस्तुतियों का सार	69

परिशिष्ट

परिशिष्ट 1	स्वीय विधि में वच्चे की अभिरक्षा के संबंध में स्थिति	74
परिशिष्ट 2	भारत में विधि का इतिहास	75
परिशिष्ट 3	संरक्षकता की इंगलिश विधि और इसका विकास	89

है जबकि पत्नी अपने पति से यह चाहती है कि वह अलग घर लेकर रहे और वह ऐसा कर भी सकता है । यह तभी होता है जब पत्नी और उसकी सास में पटरी न बैठती हो या जहां पत्नी काफी दहेज लेकर न आई हो ।

5. संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 में और हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 में आयोग द्वारा जिन संशोधनों का सुझाव दिया गया है उनमें ऊपर बताए गए विचार समाहित हैं ।

6. सदस्य सचिव श्री पी० एस० बक्शी ने इस रिपोर्ट के लिखने में जो सहायता दी उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। हम आयोग के अपर सचिव श्री वी० वी० वजे द्वारा दी गई सहायता के लिए उनका अनुगृह मानते हैं ।

अभिवादन सहित ।

भवदीय,

(पी० वी० दीक्षित)

श्री पी० शिवशंकर,
विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्री,
भारत सरकार,
नई दिल्ली ।

अध्याय 1

प्रारम्भिक

1.1. यह रिपोर्ट संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम 1890[1] से सम्बन्धित है । ऐसे विधान के सार्वजनिक महत्व और बालकों के कल्याण के लिए उसकी सुसंगतता पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है । इस अधिनियम के बहुत से उपबन्धों के निर्वचन के बारे में विवाद हुआ है और विधि में एकरूपता की दृष्टि से उनका स्पष्ट किया जाना आवश्यक है । इसलिए इस आयोग ने साधारण महत्व के केन्द्रीय अधिनियमों के पुनरीक्षण के कार्य के अंग के रूप में स्वयं प्रेरणा से इस अधिनियम के पुनरीक्षण का काम लिया है । यह भी प्रस्ताव है[2] कि इस रिपोर्ट में हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम के मिलते-जुलते उपबन्धों पर भी विचार किया जाए विशेषकर उन उपबन्धों पर जिनमें इस धारा की आवश्यकता प्रतीत होती है। उद्भव और प्रविषय ।

1.2. यद्यपि यह अधिनियम लगभग 100 वर्ष पहले पारित हुआ था किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके उपबन्धों का व्यापक पुनरीक्षण तब से अभी तक नहीं किया गया है । जब विधान-मण्डल ने हिन्दुओं को लागू होने वाले भरणपोषण और संरक्षण सम्बन्धी विधि पर[3] विचार किया तो संरक्षकता की विधि से सम्बन्धित विषयों पर विचार हुआ किन्तु 1890 के अधिनियम के सुधार पर विचार करने का कोई अवसर नहीं आया। वर्तमान दशाओं को देखते हुए इस अधिनियम के कुछ उपबन्धों में सुधार की आवश्यकता है । न्यायिक निर्णयों के परस्पर विरोध के कारण या वर्तमान विधि की अभिव्यक्ति में कुछ कमी के कारण भी इस विधि का पुनर्विलोकन आवश्यक हो गया है । विधान में स्पष्टता सदैव वांछनीय होती है और इस क्षेत्र में तो यह और भी अधिक है । कहा भी गया है[4] "कि कच्ची उम्र के लोगों का जीवन दांव पर है------"। अधिनियम के पुनरीक्षण की आवश्यकता ।

1.3. बालकों से सम्बन्धित विधान के सामाजिक महत्व पर बल देना आवश्यक नहीं है । सोफोकल्स ने यह कहा था कि बालक ही वह लंगर है जिनसे माता जीवन से बंधी रहती है । इससे यह प्रारम्भिक तत्व सुन्दर रूप से स्पष्ट हो जाता है कि छोटी उम्र के बालक और माता के बीच सम्बन्ध ऐसा बन्धन होता है जिसे पवित्र समझा जाना चाहिए। यह दुख की बात है कि इस अधिनियम के कुछ उपबन्धों में यह दृष्टिकोण पर्याप्त रूप से प्रकट नहीं होता है । इसलिए इन उपबन्धों पर हमारा ध्यान केन्द्रित होगा । समाज और बालक ।

1.4. यह सभी जानते हैं कि जब कौटुम्बिक जीवन शान्त और सुस्थिर रूप से चल रहा हो तब उससे कोई विधिक समस्या उत्पन्न नहीं होती। छोटी-छोटी लहरों से कुछ थोड़े से तनाव आते हैं जो माता-पिता को छूते भी नहीं हैं किन्तु कुटुम्ब के जीवन में यदि कोई महत्वपूर्ण समस्या आ जाती है तो उससे भावनात्मक वैमनस्य होता है और देर या सबेर एक खाई बन जाती है जो वर्तमान समय में न्यायालय तक पहुंच जाती है । जिस अधिनियम पर हम विचार कर रहे हैं वह भी एक समस्या के बारे में है जहां तक वह समस्या अप्राप्तवय बच्चों के जीवन से जुड़ी है। यह अधिनियम उस विषय का हल विधिक संरचना देकर किस सीमा तक करता है इस पर हम अपनी सिफारिशों में विचार करेंगे । कौटुम्बिक जीवन में विघटन ।

---

1. संक्षेप में इसे "उक्त अधिनियम" कहा गया है।
2. अध्याय 6, पैरा 6.50।
3. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956।
4. एफ० ए० आर० बेनियन, "फर्स्ट कंशीडरेशन" (1976) 126 न्यू एल० जे० 1237।

बालकों द्वारा उत्पन्न समस्याएं ।

1.5. विधि की प्रणाली में बालकों के कारण सामान्यतया दो समस्याएं उत्पन्न होती हैं। उन्हें अपनी अनुभवहीनता के कारण सम्पत्ति को उड़ाने से रोकना चाहिए और यदि माता-पिता में से कोई या दोनों की मृत्यु हो जाती है या यदि माता-पिता बच्चों के विषय में असहमत हैं तो बच्चों के लालन-पालन के लिये और उनकी सम्पत्ति के प्रबन्ध के लिये उपबन्ध किया जाना चाहिए ।

कल्याण ।

1.6. यहां पर सर्वोपरि विचार बालक का कल्याण ही है । बालक का कल्याण माता-पिता के अधिकार के भी ऊपर होता है । बालक के कल्याण पर विचार करते समय माता-पिता का अधिकार विचार का एक पहलू है किन्तु वह प्रधान विषय नहीं है विशेषकर वहां जब कि उसका बालक के कल्याण से अर्थ है । मु० न्या० स्क्रैटन ने अपनी अलंकृत भाषा में[1] यह कहा था "अभिरक्षा प्राप्त करने की कार्यवाही बालक के शरीर के लिए नहीं किन्तु उसकी आत्मा पाने के लिए होती है" ।

शैली की संरक्षकता ।

1.7. यह आधुनिक दृष्टिकोण है और इस स्थिति पर भी विचारविमर्श के बाद पहुंचा गया है । उदाहरण के लिए इंग्लैंड में कवि शैली के हैरियट से उत्पन्न दो बच्चे न्यायालय के आदेश के अनुसार शैली से भिन्न[2] संरक्षक की देखभाल में छोड़े गए थे । हालांकि इसमें बहुत कठिनाई हुई थी । शैली और उसकी मित्रों को ऐसा लगा कि यह निर्णय "पादरियों और विधि के क्रूर शासन" का उदाहरण है[3] और परिणामस्वरूप उसने इंग्लैंड स्थायी रूप से छोड़ दिया । किन्तु न्यायालय को यह निर्णय इसलिए देना पड़ा कि शैली के नैतिक और सौंदर्य सम्बन्धी विचार ऐसे थे कि उन्हें देखते हुए वह पिता के रूप में अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए बिल्कुल योग्य नहीं था ।

अनेक प्रतिस्पर्धी विचार ।

1.8. यहां यह कहना उचित होगा कि विधान-मण्डल द्वारा या न्यायपालिका द्वारा संरक्षकता या अभिरक्षा या दोनों से सम्बन्धित प्रश्नों का अवधारण करते समय बहुत सी प्रतिस्पर्धी बातें[4] सामने रखी गई हैं । पहले तो वैयक्तिक विधि और उसके अधीन पिता या माता के अधिकार की कसौटी है । दूसरे उस व्यक्ति के योग्य होने का प्रश्न है जिसे संरक्षक नियुक्त करने की या जिसे बालक की अभिरक्षा देने की प्रस्तावना है । तीसरे स्थान पर अवयस्क की इच्छा जानने का प्रश्न है । अन्त में, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है, यह बात है कि बालक का कल्याण किस बात से होगा या बालक के हितों का सर्वोत्तम साधन कैसे होगा । यदि हम पिछले इतिहास को देखें तो इनमें से कभी कोई और कभी कोई कसौटी प्रधानता पाती है और दूसरी तुलनात्मक दृष्टिकोण से महत्वहीन हो जाती है ।

अभिरक्षा से सम्बन्धित विधि अभी भी गतिमान है । लार्ड अपजोन ने यह कहा था[5], "यहां पर नियम विकसित हुए हैं, विकसित हो रहे हैं और इस बात में सन्देह नहीं है कि वे निरन्तर विकसित होते रहेंगे और अन्त में विचारवान स्त्री और पुरुषों के बालकों के माता-पिता के उनके प्रति उचित व्यवहार और उनके लालन-पालन के तरीकों के बारे में बदले हुए दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ेगा" ।

हमारा कहने का यह अभिप्राय नहीं है "कि बालक का कल्याण" कोई नई संकल्पना है । कहा जाता है कि सम्राट सोलोमन के विख्यात विवाद में उस विषय का निर्णय बड़े गंवारू ढंग से किया गया । किन्तु यह पूरी तरह से सही नहीं है । सम्राट का निर्णय एक चतुराईपूर्ण

---

1. केरल का मामला (1931) 1 के० बी० 317, 331 ।
2. शैली बनाम वैस्टब्रुक (1817) जैक० 260 और शैली बनाम वैस्टब्रुक (1821) जैक० 266 जिसका अनुसरण थामस बनाम राबट्स (1850) 3 डी० जी० एण्ड० एस० 758 में किया गया ।
3. चैम्बर्स एन्साइक्लोपीडिया जिल्द 12, पृ० 471 ।
4. आगे देखिए पैरा 6.37 (धारा 17)
5. जे० बनाम सी० (1970) ए० सी० 668, 722 एच-723ए० ।

देखभाल के लिए या पर्यवेक्षण करने का आदेश दे सकती है जिसके घर की परिस्थितियां लालन-पालन, शिक्षा या आचरण समाधानप्रद नहीं हैं। यह उपबन्ध माता-पिता के अधिकार पर निर्बन्धन लगाते हैं ऐसा प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में यह माता-पिता के उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए आवश्यक हैं।

दाण्डिक विधि।

1.14. अब यह विषय सिविल विधि के क्षेत्र में आते हैं किन्तु वर्तमान समय में दाण्डिक विधि ने फिर आगे बढ़कर बालक को बहुत सी बुराईयों से संरक्षण प्रदान किया है जैसे खतरनाक व्यवसायों में नियोजन, खतरनाक पदार्थों का क्रय, यौन सम्बन्धी दुराचार आदि। कुछ ऐसे भी उपबन्ध हैं जो माता-पिता द्वारा बालक की उपेक्षा या उनके दुर्व्यवहार से बालक को संरक्षण देने के लिए हैं।

प्रक्रिया में विकास-न्यायालय की सहायता के लिए विशेषज्ञ।

1.15. अधिष्ठायी विधि में इन विकासों के साथ-साथ प्रक्रिया सम्बन्धी विधि में भी इसी प्रकार का विकास हुआ है। यह विकास मुख्यतया यह सुनिश्चित करने के लिये है कि इस मार्गदर्शक सिद्धान्त को कि बालक का हित सर्वोपरि है। उचित रूप से लागू किया जाना चाहिए और व्यवहार में पर्याप्त रूप से अनुपालित किया जाना चाहिए। बालक के कल्याण का निरीक्षण करने के लिए न्यायालय की सहायता के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति का आन्दोलन और बालक के लिए अधिवक्ता की नियुक्ति का आन्दोलन, इस विश्वास पर आधारित है।

उदाहरण के लिए इंग्लैंड में सभी न्यायालयों को यह शक्ति है कि बालक के कल्याण से सम्बन्धित विषयों पर वे स्वतंत्र रिपोर्ट मंगवा सकते हैं। उच्च न्यायालय और विवाह विच्छेद न्यायालय में यह सेवा जनकल्याण अधिकारी द्वारा दी जाती है। साधारणतया यह अधिकारी उस क्षेत्र का मुख्य परिवीक्षा अधिकारी होता है। यद्यपि यह निर्णय विवाह विच्छेद के आनुषंगिक कार्यवाहियों में अधिकतर लिया जाता है किन्तु यह उन्हीं कार्यवाहियों तक सीमित नहीं है।

स्वतंत्र विधिक प्रतिनिधि।

1.16. बालक को पृथक प्रतिनिधित्व दिए जाने के बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत सी शिक्षाप्रद सामग्री है जिसमें यह कहा गया है कि विवाद वाले मामलों में बालक के लिए[1-3] पृथक् प्रतिनिधित्व का सुझाव इस आधार पर दिया गया है[4] कि अभिरक्षा के मामलों में जहां वास्तविक विवाद साफ दिखाई पड़ता है अधिवक्ता की नियुक्ति जल्दी कर देने से इस सिद्धान्त को प्रभावी ढंग से व्यवहार में लाया जा सकता है।

हाल ही में इंग्लैंड में अभिरक्षा की कार्यवाही के सम्बन्ध में[5] न्यायालय को बालक के हित के लिए किसी व्यक्ति को प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करने की शक्ति दी गई है।[6]

निरन्तर दृष्टिकोण

1.17. गत वर्षों की अवधि में यह दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है जो लगातार कई पीढ़ियों का इस बारे में मत है कि विधि के इस क्षेत्र में लोकहित में क्या होना चाहिए। भारत में इस क्षेत्र में विधान इसकी समानान्तर दिशा में चलना चाहिए इससे भिन्न नहीं।

---

1. गोल्डस्टिन एण्ड अदर्स, "बियोण्ड दि बेस्ट इंट्रेस्ट्स आफ दि चाइल्ड" (1973), पृ0 66।
2. नोट, "लायरिंग फार दि चाइल्ड" (1973), मई 87 येल ला जर्नल 1126।
3. स्टैचुटरी रेफरेंसिज कलक्टेड इन नोट, "लायरिंग फार दि चाइल्ड" (1978 मई) 87 येल ला जर्नल 1126, फुटनोट 8 में संगृहीत कानूनी उपबंधों के प्रति निदेश (19 अधिकारिताओं में "बालक के लिए अटर्नी या काउंसिल" और 5 अधिकारिताओं में "वाद संरक्षक" शब्दों का प्रयोग किया गया है)।
4. नोट, "लायरिंग फार दि चाइल्ड" (1978 मई) 87 येल ला जर्नल, 1126।
5. धारा 64, चिल्ड्रन ऐक्ट, 1975 इन्सर्टिंग धारा 32क इन दि चिल्ड्रन एण्ड यंग परसन्स ऐक्ट, 1964।
6. एलेक सैमुअल, "चिल्ड्रन्स एडवोकेट" (1977), एन० एल० जे० 133 भी देखिए।

न्यायाधीश विश्वासपूर्वक उन विधिक और तात्विक विवादकों को विनिश्चित कर सकता है जो बालक की अभिरक्षा के सम्बन्ध में होते हैं। किन्तु उसे उस समय सहायता की आवश्यकता पड़ती है जब वह यह मूल्यांकन करता है कि जो अनुकल्प हैं उनमें से कौन सा बालक की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा। सभी प्रकार की परिस्थितियों में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के अनुसार न्यायाधीशों को निर्णय के लिये मार्गदर्शन प्रस्तुत करने का प्रयत्न निरर्थक होगा। ऐसा प्रयत्न आकर्षक तो होगा किन्तु सफल नहीं क्योंकि जिन तथ्यों का मूल्यांकन किया जाना है वे बहुत जटिल होते हैं।

कौटुम्बिक विधि में और बालक के सम्बन्ध में विधि की दिशा।

1.12. कौटुम्बिक विधि के विद्यार्थी यह भली भांति जानते हैं कि इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण विकास हुए हैं। कुटुम्ब से सम्बन्धित विवादों से उठने वाली कार्यवाहियां एक विशेष प्रकार की होती हैं[1]। यह स्वीकार करने पर और स्त्रियों को समान स्तर दिया जाए[2] इस मांग से जो नए मूल्य उत्पन्न हुए हैं उसके साथ बालक के अधिकार पर अधिक बल दिए जाने के परिणामस्वरूप कौटुम्बिक विधि में कुछ महत्वपूर्ण विकास हुआ है। जहां तक संरक्षकता और बालक की अभिरक्षा का विषय है विधायी और न्यायिक दृष्टिकोण आजकल क्या हैं इस पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

विधायी दृष्टिकोण।

1.13. पहले तो अभिरक्षा के लिए आवेदन करने के अधिकार के बारे में माता को दिनोंदिन अधिक महत्व दिया जा रहा है। इंग्लैंड में यह दृष्टिकोण विधान के रूप में 1829, 1873 और 1925 में सामने आया जब विधान द्वारा माता के अधिकार को अधिकाधिक मान्यता दी गई। इसकी समाप्ति 1973 के अधिनियम के कानूनी उपबन्ध में हुई[3] जिसमें यह साफ-साफ उपबन्धित किया गया है कि "अवयस्क की अभिरक्षा और उसके लालन-पालन के सम्बन्ध में और उसकी सम्पत्ति के या न्यास के रूप में धारित उसकी सम्पत्ति के प्रशासन के सम्बन्ध में या उसकी सम्पत्ति की आय के उपयोजन के सम्बन्ध में माता का वही अधिकार और प्राधिकार होगा जो विधि के अनुसार पिता का है तथा माता और पिता के अधिकार और प्राधिकार समान होंगे और उनमें से किसी भी एक के द्वारा प्रयोग किए जा सकेंगे। यदि वे सहमत नहीं हैं तो उनमें से कोई न्यायालय से आवेदन कर सकेगा"।

यह 19वीं शताब्दी के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है। उस समय न्यायालय अभिरक्षा के लिए पिता के दावे को प्रवृत्त करने से इंकार बड़ी मुश्किल से करता था।

दूसरा दृष्टिकोण जो न्यायालयों को अधिक शक्ति दिए जाने के परिणामस्वरूप सामने आया है, उस सिद्धान्त का विकास है जिसके आधार पर ऐसे विवादों का निर्णय किया जाता है। यह बालक के कल्याण का सिद्धान्त है जो आगे चलकर पिता के अधिकार पर अभिभावी हो गया। इस प्रकार माता और पिता के बीच समानता आ गई और बालक के कल्याण को सर्वोपरि स्थान दिया गया।

तीसरे कौटुम्बिक सम्बन्धों की जटिलता बढ़ती जा रही है जिससे कुछ देशों में यह आवश्यक हो गया है कि कुटुम्ब से बाहर के कुछ व्यक्तियों या निकायों को बालक के हित में हस्तक्षेप करने की शक्ति दी जाए। माता-पिता और उनसे भिन्न व्यक्तियों के बीच जब स्पर्धा होती है[4] तो बालक का कल्याण ही पहले और सर्वोपरि विचार होता है।

चौथे, हमें ऐसे विधान मिलते हैं जिनके द्वारा स्थानीय प्राधिकारियों को बालक की देखभाल के सम्बन्ध में कुछ काम सौंपे गए हैं। न्यायालय इन प्राधिकारियों को ऐसे बालक की

---

1. पैरा 1.11।
2. पैरा 1.18।
3. गार्जियनशिप ऐक्ट, 1973 की धारा 1(1), आगे देखिए अध्याय 6, और उपाबन्ध 3।
4. तुलना कीजिए जे० बनाम सी० (1969) 1 आल ई० आर० 788 (हाउस आफ लार्ड्स)।

अध्याय 2

संक्षिप्त इतिहास

2.1. भारत में इस विधि के ऐतिहासिक विकास पर हम संक्षेप में विचार करेंगे[1] । 1890 के अधिनियम के पहले अवयस्कता की आयु से सम्बन्धित विधि संहिताबद्ध थी[2]। अवयस्क की संरक्षकता के सम्बन्ध में कोई अखिल भारतीय आधिनियम नहीं था। यह विषय कुछ स्थानीय क्षेत्रों में प्रवृत्त कुछ अधिनियमों या विनियमों द्वारा शासित था और साथ ही संरक्षकता से सम्बन्धित वैयक्तिक विधि के कुछ असंहिताबद्ध नियम भी इस क्षेत्र में लागू होते थे। प्रारम्भिक।

2.2. संक्षेप में 1890 के पहले संरक्षण से सम्बन्धित कानूनी विधि (कोर्ट आफ वार्ड्स से सम्बन्धित विधान को छोड़कर) कुछ अधिनियमों के रूप में थी जो तीनों प्रेसीडेंसियों में अलग-अलग प्रवृत्त थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में कुछ विनियम भी प्रवृत्त थे। वयस्कों की विधि से सम्बन्धित विधि को संशोधित करने वाला एक विधान था (1861 का अधिनियम 9) और दूसरा यूरोपियन ब्रिटिश माइनर्स ऐक्ट, 1874 था जिसमें यूरोपियन ब्रिटिश अवयस्कों की संरक्षकता के लिए उपबन्ध था। कानूनी विधि।

2.3. संरक्षकता से सम्बन्धित साधारण विधि इससे अप्रभावित थी। ऊपर निर्दिष्ट विधान यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा को छोड़कर नैसर्गिक संरक्षक उनके अधिकार और कर्तव्यों पर लागू नहीं होते थे। यह विषय वैयक्तिक विधि में असंहिताबद्ध नियमों द्वारा निपटाया जाने के लिए छोड़ दिए गए। इसी प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों में वसीयती संरक्षक का विषय भी छोड़ दिया गया। असंहिताबद्ध विधि।

2.4. 1890 के पहले प्रवृत्त अधिनियमों में से एक ने व्यवहार में कुछ गम्भीर कठिनाईयां उत्पन्न की थीं। यह अधिनियम था बोम्बे माइनर्स ऐक्ट, 1864। मुख्यतः इसी के कारण तत्-कालीन सरकार ने संरक्षकता के विषय पर उपयुक्त विधान बनाने का प्रश्न हाथ में लिया। यह भी अनुभव किया गया कि इस विषय पर अखिल भारतीय विधि बनाना आवश्यक है[3]। 1890 के अधिनियम का उद्भव।

2.5. इस पृष्ठ भूमि पर बिल का प्रारूप तैयार किया गया और उसे टिप्पणी के लिए परिचालित किया गया फिर उसका पुनरीक्षण करके उसे पुर: स्थापित किया गया और आगे प्रक्रिया की गई। सुसंगत विचार विमर्श का विस्तृत विवरण परिशिष्ट में दिया गया है[4]।

---

1. विस्तृत ऐतिहासिक विचारविमर्श के लिए देखिए उपबन्ध 2।
2. इंडियन मेजोरिटी ऐक्ट, 1873।
3. देखिए परिशिष्ट 2 (ऐतिहासिक विचारविमर्श)।
4. परिशिष्ट 2।

स्त्री-पुरुषों के बीच स्पर्धा ।

1.18. अन्त में हम यह भी उल्लेख कर दें कि स्त्री-पुरुषों के बीच समानता के व्यवहार पर न केवल अन्तरराष्ट्रीय[1] निकायों में बल दिया गया है बल्कि भारत में[2] स्त्रियों की दशा से सम्बन्धित निकायों ने जोर दिया है ।

संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा ।

1.19. बालक से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा में यह सिद्धान्त[3] निष्पादित किया गया है ।

> "बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण और समन्वयपूर्ण विकास के लिए उसे प्रेम और समझ की आवश्यकता होती है । जहां भी सम्भव हो उसे अपने माता-पिता की देखरेख में और उन्हीं की जिम्मेदारी पर होना चाहिए । किसी भी दशा में उसे प्रेमपूर्ण और नैतिक वातावरण में तथा भौतिक सुरक्षितता के बीच पाला जाना चाहिए। कच्ची उम्र के बालक को आपवादिक परिस्थितियों को छोड़कर उसकी मां से अलग नहीं किया जाना चाहिए। समाज और सामाजिक प्राधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे बालक की विशेष रूप से देखभाल करें जिसके कुटुम्ब नहीं है या जिन्हें भरणपोषण के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। जो बच्चे कुटुम्ब में जन्म लेते हैं उनके लालन-पालन के लिए राज्य सहायता दे यह वांछनीय है ।"

यूरोप में और अन्यत्र स्थिति ।

1.20. इंग्लैंड में हाल ही के विधान में माता-पिता की समान स्थिति पर बल दिया गया है[4] । फ्रांस में[5] पिता की शक्ति के स्थान पर माता-पिता की शक्ति रख दी गई है ।

स्वीडन की वर्तमान स्थिति भी आधुनिक दृष्टिकोण का उदाहरण है[6] । माता-पिता विवाह के बच्चों के संयुक्त संरक्षक होते हैं और उनमें से एक की मृत्यु पर दूसरा एकमात्र संरक्षक हो जाता है । अलग होने पर या विवाह विच्छेद के बाद उनमें से जिसको अभिरक्षा मिलती है वही एकमात्र संरक्षक होता है । अवैध बालकों के लिए माता भी एकमात्र संरक्षक होती है जब तक कि वह बालक की ओर से कार्य करने में अक्षम न हो। 20वें वर्ष तक बालक माता-पिता या संरक्षक की अभिरक्षा में होता है । जब माता-पिता साथ रहते हैं तब उनकी अभिरक्षा संयुक्त होती है । अलग होने या विवाह विच्छेद की दशा में न्यायालय यह निर्णय करता है कि माता-पिता में से कौन अभिरक्षक होगा। व्यवहार में बहुधा माता को चुना जाता है जब बालक कुछ कच्ची उम्र का हो। 13 वर्ष से ऊपर के पुत्रों की दशा में पिता को चुना जाता है।

समाज द्वारा अपने बच्चों के प्रति व्यवहार।

1.21. इंग्लैंड में चिल्ड्रन ऐक्ट, 1975 के पीछे जो दर्शन हैं उसे डेविड ओवन एम० पी०[7] ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

> "राष्ट्र के बालक ही राष्ट्र का भविष्य हैं, कोई समाज अपने बालकों के प्रति कैसा व्यवहार करता है इससे उस समाज के स्वास्थ्य और स्थायित्व का पता चलता है ।"

सर्वेक्षण की सुसंगतता ।

1.22. विभिन्न विधायी और अन्य उपायों की प्रभावकारिता के बारे में विभिन्न मत हैं। किन्तु यह संक्षिप्त सर्वेक्षण यह दिखाने के लिए है कि माता-पिता और संतान के बीच विधिक सम्बन्ध वैसा नहीं हो सकता जैसा वैवाहिक व्यक्तियों के बीच होता है क्योंकि यहां हम ऐसे व्यक्ति के लालन-पालन पर विचार करते हैं जो स्वयं अपने देखभाल नहीं कर सकता और साथ ही अन्य व्यक्तियों को उसकी देखभाल करने के लिए विवश भी नहीं कर सकता ।

---

1. यू० एन कमीशन आन स्टेट्स आफ वुमेन, 20वां अधिवेशन (1967) ।
2. कमेटी आन स्टेटस आफ वुमेन (इंडिया) रिपोर्ट (1974) पृ० 126-128, पैराग्राफ 4.143 और 4.144 ।
3. यू० एन डिक्लेरेशन आफ राइट्स आफ दि चाइल्ड, प्रिंसीपल 6 ।
4. गार्जियनशिप आफ माइनर्स ऐक्ट, 1971 एण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट, 1973 ।
5. 4 जून, 1970 की विधि (फ्रांस) जिसका एलेक्जेण्डर, "वुमेन इन फ्रांस" (1972) 20 अमेरिकन जर्नल आफ कम्पेरेटिव ला, 647, 651 में संक्षेप में उल्लेख है।
6. वेलिन, "वुमेन इन स्वीडन" (1972) 20 अमेरिकन जर्नल आफ कम्पेरेटिव ला, 622, 626।
7. डेविड ओवन एम० पी० ।

कानूनी उपबन्ध ।

3.5. भारत में संरक्षकता की कानूनी विधि प्रमुख रूप से किन्तु अनन्य रूप से नहीं—संरक्षकता और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 में और हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 में है। इसके अतिरिक्त चार्टरित उच्च न्यायालयों[1] को इस विषय पर उनके चार्टर या लैटर्स पेटेंट द्वारा विशेष अधिकारिता दी गई है। कोर्ट आफ वार्ड्स—जो मुख्यतया राजस्व दायी सम्पदाओं से सम्बन्धित हैं—राज्य अधिनियमों द्वारा शासित होते हैं, उन राज्यों में जहां ऐसे विधान अभी भी विद्यमान हैं। वसीयती संरक्षक उत्तराधिकार अधिनियम,[2] के अधीन या हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम[3-4] के अधीन नियुक्त किए जा सकते हैं।

अधिनियम निःशेषकारी नहीं है।

3.6. 1890 का अधिनियम संरक्षकता की सम्पूर्ण विधि अभिलिखित नहीं करता है। उदाहरण के लिए इसमें यह नहीं दिया गया है कि अवयस्क के नैसर्गिक संरक्षक कौन होंगे। सबसे पहले इस अधिनियम में संरक्षकता के बारे में न्यायालयों की अधिकारिता बताई गई है, जैसे :—

(i) संरक्षक की नियुक्ति और घोषणा,

(ii) संरक्षकों का हटाया जाना,

(iii) न्यायालयों द्वारा संरक्षकों पर नियंत्रण, और

(iv) अभिरक्षा के बारे में आदेश।

दूसरे, यह सभी वर्ग के संरक्षकों के कर्तव्य और दायित्व पर विचार करता है।

1890 के अधिनियम की स्कीम।

3.7. इस अधिनियम का 4 अध्यायों में विभाजन किया गया है। पहला अध्याय (धारा 1 से 4क) कुछ प्रारम्भिक बातों के बारे में है जैसे नाम, विस्तार और प्रारम्भ, व्यावृत्ति, परिभाषाएं और अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों, अधिकारिता प्रदत्त करने की और ऐसे अधिकारियों को कार्यवाही अन्तरित करने की शक्ति।

अध्याय 2 (धारा 5 से 19) संरक्षकों की नियुक्ति और घोषणा के बारे में है। इस अध्याय के कुछ उपबन्धों के बारे में विशेषकर धारा 7, 17 और 19 के बारे में बहुत से प्रश्न उपस्थित हुए हैं। धारा 5 जो विल या अन्य लिखत द्वारा यूरोपियन ब्रिटिश प्रजा की दशा में संरक्षक की नियुक्ति के बारे में थी निरसित कर दी गई है[5]। अन्य दशाओं में संरक्षक की नियुक्ति की शक्ति धारा 6 में है जो सभी व्यक्तियों को लागू होती है। धारा 7 इस अध्याय का प्रवर्तनकारी उपबन्ध है। यह किसी व्यक्ति के शरीर या सम्पत्ति या दोनों के संरक्षक की नियुक्ति के बारे में न्यायालय की शक्ति के सम्बन्ध में है। धारा 8 से 16 तक की धाराएं मुख्यतया प्रक्रियात्मक या अन्य छोटे-छोटे विषयों के सम्बन्ध में है किन्तु धारा 17 बहुत महत्वपूर्ण है। यह उन विषयों के बारे में है जिन पर संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय द्वारा विचार किया जाना चाहिए। धारा 18 में यह उपबन्ध है कि यदि कलक्टर को संरक्षक नियुक्त या घोषित किया जाता है तो वह अपने पद के आधार पर नियुक्त होगा। धारा 19 कुछ मामलों में संरक्षक की नियुक्ति का प्रतिषेध करती है। यद्यपि यह धारा नकारात्मक रूप में है फिर भी इसके कारण निर्वचन में बहुत सी समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। यह प्रश्न भी उत्पन्न हुआ है कि धारा 17 और धारा 19 का परस्पर क्या सम्बन्ध है। हम इस प्रश्न पर समुचित स्थल पर विचार करेंगे।

---

1. (क) दत्तात्रेय का मामला आई० एल० आर० 58 बाम्बे 519।
   (ख) महादेव कृष्ण ए० आई० आर० 1937 बाम्बे 1932।
2. भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 60।
3. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956।
4. देखिए पैरा 3.4।
5. धारा 5 में यूरोपियन ब्रिटिश माइनर्स ऐक्ट, 1874 का अनुसरण किया गया था।

अध्याय 3

वर्तमान विधि और 1980 के अधिनियम की स्कीम

प्रविषय।

3.1. इस अध्याय में हम संक्षेप में भारत में संरक्षकता के विषय पर वर्तमान विधि पर जैसी कि वह 1890 के अधिनियम और कुछ अन्य सम्बद्ध अधिनियमों में है, विचार करेंगे।

अप्राप्तवयता।

3.2. इस अधिनियम में संरक्षकता एक ऐसी संकल्पना है जो अविभाज्य रूप से "अप्राप्तवयता" की विधिक संकल्पना से जुड़ी हुई है। प्रारम्भ में ही हम अवयस्कता की स्थिति को संक्षेप में बताएंगे। इस विषय में जो प्रधान अधिनियम है वह है भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875।

भारतीय विधि में मुख्यतः अवयस्क की आयु के प्रति निर्देश से अवयस्क की संरक्षकता की अवधि तीन खण्डों में विचारणीय है। सबसे पहले, अवयस्क ऐसा व्यक्ति है जो वैयक्तिक विधि के अन्तर्गत आने वाले मामलों में विनिर्दिष्ट आयु से कम का हो। यह आयु कम या अधिक होती रहती है किन्तु हिन्दुओं की दशा में (असंहिताबद्ध विधि के अधीन) यह 15 वर्ष या 16 वर्ष थी। (यह उस शाखा पर आधारित थी जिसके अधीन अवयस्क आता था) मुस्लिम विधि के अनुसार अवयस्कता की आयु 15 वर्ष तक हो सकती है।

हिन्दुओं के लिए अब यह अधिनियम द्वारा[1] 18 वर्ष हो गई है।

दूसरे, जो विषय भारतीय वयस्कता अधिनियम द्वारा शासित होते हैं[2] उनके लिए कोई व्यक्ति तब तक अवयस्क होता है जब तक कि वह 18 वर्ष का न हो जाए। यह अधिनियम विनिर्दिष्ट मामलों में कर्तव्य करने की व्यक्ति की क्षमता को लागू नहीं होता है। ये बातें मुख्यतः हैं विवाह, मेहर, विवाह-विच्छेद और दत्तकग्रहण तथा धर्म या धार्मिक कृत्य से सम्बन्धित विषय और व्यक्तियों के किसी वर्ग की रूढ़ियां।

तीसरे, उस व्यक्ति की दशा में जिसके लिए न्यायालय ने कोई संरक्षक नियुक्त किया है या जो कोर्ट आफ वार्ड्स के संरक्षण में काम कर रहा है अवयस्कता की आयु 21 वर्ष होती है।[2]

विवाह की न्यूनतम आयु अब कानून के अनुसार पुरुषों के लिए 21 वर्ष और स्त्रियों के लिए 18 वर्ष है[3]। किन्तु विहित आयु का उल्लंघन करके किया गया विवाह सिविल विधि के प्रयोजन के लिए शून्य नहीं होता। पर इसके कारण दण्ड दिया जा सकता है।

मुकदमेबाजी।

3.3. मुकदमेबाजी के प्रयोजनों के लिए अवयस्क की संरक्षकता पर विधि सिविल प्रक्रिया संहिता में दी गई है[4]।

वसीयती संरक्षण।

3.4. वसीयती संरक्षकता कुछ कानूनी उपबन्धों द्वारा[5-6] विनियमित होती है और मुसलमानों के बारे में मुस्लिम विधि से विनियमित होती है।

---

1. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 4(क)।
2. भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875।
3. बालक विवाह अवरोध अधिनियम, 1939, यथासंशोधित।
4. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 32।
5. (क) हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 9।
   (ख) भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 60।
6. देखिए पैरा 3.5।

अध्याय 4

प्रारम्भिक उपबन्ध : धारा 1 से 4

प्रविषय।

4.1. धारा 1 से 3 प्रारम्भिक विषयों के सम्बन्ध में है और इनसे साधारणतया कोई गम्भीर विवाद उत्पन्न नहीं होता। इनमें अपेक्षित परिवर्तन भी छोटे हैं।

4.2. धारा 2 का निरसन हो गया है।

4.3. धारा 3 में कोर्ट आफ वार्ड्स और उच्च न्यायालयों की अधिकारिता की व्यावृत्ति की गई है। कोर्ट आफ वार्ड्स अब अधिकतर प्रान्त या राज्य विधान द्वारा शासित होते हैं वह भी उन स्थानों पर जहां विधान अभी वर्तमान हैं। उच्च न्यायालयों की अधिकारिता की व्यावृत्ति की आवश्यकता इसलिए हुई कि कुछ न्यायालयों के लैटर्स पेटेंट या चार्टर उन उच्च न्यायालयों को संरक्षकता के बारे में विशेष अधिकारिता प्रदान करते हैं। इस अधिकारिता का प्रयोग अन्य उच्च न्यायालयों द्वारा नहीं किया जा सकता। हम अधिकारिता के बारे में विस्तार से उचित स्थान पर कुछ कहेंगे[1]। यहां आनुषंगिक रूप से यह कह दें कि उच्च न्यायालयों की अधिकारिता हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम द्वारा भी विशेष रूप से बचाई गई है[2]।

3—उच्च की ा के उदा-

4.4. धारा 3 द्वारा उच्च न्यायालय की शक्ति की व्यावृत्ति के उदाहरण का उल्लेख करना उचित होगा—(क) ये हैं किसी बालक के लिए या उसकी सम्पदाओं के लिए संरक्षक नियुक्त करने की विशेष शक्ति—इसके अन्तर्गत अविभक्त सम्पत्ति में अवयस्क का हित भी है,[3]

(ख) जहां सम्पत्ति नहीं है वहां भी संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति यदि ऐसी नियुक्ति के लिए उचित कारण दिखाया जाता है,[4] और

(ग) विदेश में रहने वाले के लिए संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति[5]। (सुप्रीम कोर्ट के चार्टर की धारा 41 और 42 के आधार पर)।

–पुन :

4.5. धारा 4 में कुछ अभिव्यक्तियों की परिभाषाएं हैं, अर्थात् "अप्राप्तवय", "संरक्षक", "प्रतिपाल्य", "जिला न्यायालय", "न्यायालय", "कलक्टर" और "विहित"।

चालू विधायी पद्धति के अनुसार परिभाषाओं को वर्ण क्रम से रखा जाना चाहिए। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

1)—
।

4.6. धारा 4(1) में 'अप्राप्तवय' की परिभाषा भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875 के प्रति निर्देश से उस अधिनियम में दी गई परिभाषा को अंगीकृत करती है। किन्तु वह अधिनियम उन्हीं व्यक्तियों को लागू होता है जो भारत में अधिवसित हैं। जो व्यक्ति इस रूप में अधिवसित नहीं हैं उनके बारे में यह उपधारणा की जा सकती है कि वे भारत में लागू होने वाली प्राइवेट अन्तरराष्ट्रीय विधि के नियमों से शासित होंगे।

---

1. देखिए धारा 7 से सम्बन्धित विचार विमर्श आगे पैरा 6.12 में।
2. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 12 का परन्तुक।
3. (क) लवजाय का मामला, ए० आई० आर० 1944 कल० 433।
   (ख) वसुदेवन का मामला, ए० आई० आर० 1949 मद्रास 260।
4. जगन्नाथ रामजी का मामला, (1893) आई० एल० आर० 19 बाम्बे 96, 98 (न्या० स्टार्लिंग)।
5. एस्टेट आफ एच० जी० मीकिन का मामला आई० एल० आर० 21 बम्बई 137 (अवयस्क इंगलैंड में निवास कर रहा था) इसकी तुलना कीजिए जैराम लक्ष्मण आई० एल० आर० 16 बम्बई 634।

3.8. अध्याय 3 (धारा 20 से 42) इस अधिनियम का सबसे लम्बा अध्याय है और यह संरक्षक के कर्तव्य, अधिकार और दायित्व के सम्बन्ध में है। पहली चार धाराएं (धारा 20 से 23) साधारण प्रकृति के विषयों के सम्बन्ध में हैं जैसे संरक्षक का अपने प्रतिपाल्य से वैश्वासिक सम्बन्ध, अवयस्क की संरक्षक के रूप में कार्य करने की क्षमता, संरक्षक का पारिश्रमिक और जब कलक्टर संरक्षक नियुक्त किया जाता है तब उसका नियंत्रण। व्यक्ति की संरक्षकता पर धारा 24 से 26 में उपबन्ध किया गया है। इनमें से धारा 25 सबसे अधिक महत्व की है जो प्रतिपाल्य की अभिरक्षा संरक्षक को लौटाए जाने के बारे में है। व्यवहार में इस धारा का अब अधिक प्रयोग होता है और इसलिए इस धारा के बारे में निर्णयजनित विधि भी बहुत अधिक है।

धारा 27 से 37 तक की धाराओं का विषय है सम्पत्ति का संरक्षक।

धारा 38 से 42 में इस अधिनियम में फिर से साधारण विषयों पर विधि बनाई गई है मुख्यतया संयुक्त संरक्षकों के बीच उत्तरजीविता अधिकार, संरक्षक का हटाया जाना, संरक्षक का उन्मोचन, संरक्षक के प्राधिकार का अन्त किया जाना, मृत, उन्मोचित या हटाए गए संरक्षक के उत्तरवर्ती की नियुक्ति।

अधिनियम के इन उपबन्धों की अनुपूर्ति अध्याय 4 द्वारा (धारा 43 से 51) की गई है। यह अध्याय मुख्यतया प्रवर्तन, अपील, खर्चे, नियम और प्रकीर्ण या अवशिष्ट विषयों के सम्बन्ध में है।

धाराओं पर विचार।

3.9. इन साधारण सम्प्रेक्षणों के पश्चात् अब हम इस अधिनियम पर धारावार विचार करेंगे।

व्यवहारिक संरक्षक सम्मिलित नहीं हैं (जहां ऐसी संरक्षकता व्यक्तिगत विधि के अधीन अभी वर्तमान है)। वादकालीन संरक्षक भी इसमें नहीं आते हैं। यह बात परिभाषा के शब्दों से स्पष्ट हो जाती है क्योंकि परिभाषा में यह अपेक्षा है कि संरक्षक होने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति की देखरेख में अवयस्क का शरीर या सम्पत्ति हो। देख रेख पर जो बल दिया गया है वह मूल एंग्लो सेक्सन शब्द "वेरडियन" से व्युत्पन्न है। इस शब्द का अर्थ होता है पहरा देना या रक्षा करना।

वस्तुत : संरक्षक।

4.9. जब पाठ्य पुस्तक के लेखक व्यक्तिगत विधि पर विचार करते हैं तब वे "वस्तुतः संरक्षक" के प्रश्न पर भी विचार करते हैं। 1890 के अधिनियम के बारे में जो बहुत से विवाद उठे हैं वह उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में हैं जो किसी विधिक अधिकार के आधार पर अवयस्क की संरक्षकता या अभिरक्षा का दावा करते हैं[1] किन्तु 1956 के अधिनियम के पश्चात् हिन्दुओं को वस्तुतः संरक्षक के बारे में कौन सी विधि लागू होती है यह प्रश्न विचारणीय है।

1956 के अधिनियम की धारा 4 और 1890 के अधिनियम से उसका सम्बन्ध।

4.10 1956 के अधिनियम की धारा 4ख में संरक्षक की परिभाषा इस प्रकार है;

"4. इस अधिनियम में,--

* * * * *

(ख) "संरक्षक" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसकी देखरेख में किसी अप्राप्तवय का शरीर या उसकी सम्पत्ति या उसका शरीर और सम्पत्ति दोनों हों और उसके अन्तर्गत आते हैं--

(i) नैसर्गिक संरक्षक,

(ii) अप्राप्तवय के पिता या माता की विल द्वारा नियुक्त संरक्षक,

(iii) न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक, तथा

(iv) किसी प्रतिपाल्य अधिकरण से सम्बन्ध रखने वाली किसी अधिनियमित के द्वारा या अधीन संरक्षक की हैसियत में कार्य करने के लिए सशक्त व्यक्ति,

यह ध्यान देने योग्य है कि 1956 के अधिनियम में धारा 4(ख) में वस्तुतः संरक्षक को विनिर्दिष्ट रूप से सम्मिलित नहीं किया गया है। यद्यपि "जिसकी देख रेख में" शब्दों के अन्तर्गत वस्तुतः संरक्षक आ सकते हैं ऐसा प्रतीत होता है। यह विवाद उठा है कि क्या 1890 के अधिनियम की धारा 4(2) की परिभाषा में हिन्दुओं के बारे में[1] वस्तुतः संरक्षक आएंगे। मुम्बई उच्च न्यायालय ने[2] इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया है। केरल उच्च न्यायालय ने[3] भिन्न मत प्रकट किया है।

वस्तुतः संरक्षक की संकल्पना।

4.11. इस स्थिति को साफ करना आवश्यक है। "वस्तुतः संरक्षक की संकल्पना पर फेडरल न्यायालय ने विस्तार से विचार किया था। एक निर्णय में मु० न्या० कानिया ने यह कहा था:--[4]

"केवल वस्तुतः प्रबन्धक हो सकता है यद्यपि पाठ्य पुस्तकों में और न्यायालय के निर्णयों में "वस्तुतः संरक्षक" अभिव्यक्ति का भी प्रयोग किया गया है। यदि उस शब्दावली का प्रयोग करें तो ऐसे प्रबन्धक की स्थिति को परिभाषित करने में नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियां विचारणीय नहीं रह जाती (और मैं यह समझता हूं कि ऐसे व्यक्ति को प्रबन्धक कहना भी उचित है जो साधारणतया अवयस्क की सम्पदा का प्रबन्ध कर रहा है किन्तु जिसे ऐसा करने का विधिक हक नहीं है)"।

---

1. पैरा 4.7।
2. **रतन बनाम** विशन ए० आई० आर० 1978 बम्बई 190 (पी० एस० शाह न्यायाधीश)
3. रामचन्द्र बनाम अन्नपूर्णी अम्मल ए० आई० आर० 1964 केरल 269।
4. श्रीरामुलु बनाम पुण्डरिकाक्षयम ए० आई० आर० 1949 एफ० सी० 218, 221, पैरा 13।

इस सम्बन्ध में हम संविदा करने की क्षमता के बारे में जो स्थिति है उसके प्रति निर्देश करेंगे । भारतीय संविदा अधिनियम[1] में यह उपबन्ध है कि :—

"हर ऐसा व्यक्ति संविदा करने के लिए सक्षम है, जो उस विधि के अनुसार, जिसके वह अध्यधीन है, प्राप्तवय हो, और जो स्वस्थचित हो, और किसी विधि द्वारा, जिसके वह अध्यधीन है, संविदा करने से निरर्हित न हो।"

"जिस विधि के अधीन वह है" शब्द न्यायालय को इस बात के लिए छूट देते हैं कि यदि वह प्राइवेट अन्तरराष्ट्रीय विधि के रूप में यह निश्चित करता है कि विदेशी विधि का नियम लागू करना चाहिए तो वह ऐसा कर सकता है। दूसरे शब्दों में वयस्कता की आयु उस विधि की पद्धति से अवधारित की जाएगी जो प्राइवेट अन्तरराष्ट्रीय विधि के भारतीय नियमों के अनुसार विधि के उस क्षेत्र में मान्यता पाती है जिसके बारे में विवाद है। यह विषय (विधि के कुछ क्षेत्रों के बारे में) अधिनियमों द्वारा विनियमित है[2], किन्तु कुछ क्षेत्र विनियमित नहीं हैं। इस जटिल प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए एक मत यह है कि[3] भारत में जो व्यक्ति अधिवसित हैं उनकी संविदा करने की क्षमता अधिवास की विधि द्वारा शासित होती है किन्तु दूसरा मत[4] यह है कि वह संविदा के स्थान की विधि से शासित होगी।

धारा 4(2)—क्या विधिक व्यक्ति 'संरक्षक' हो सकता है।

4.7. धारा 4(2) के बारे में अधिक विस्तार से टिप्पणी करने की आवश्यकता है। इस धारा में संरक्षक की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि संरक्षक से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जो अप्राप्तवय के शरीर या उसकी सम्पत्ति की या उसके शरीर और सम्पत्ति दोनों की देखरेख करता है। यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या नैसर्गिक व्यक्ति से भिन्न कोई व्यक्ति भी संरक्षक नियुक्त हो सकता है। इस विषय में कलकत्ता का यह मत है कि कोई पूर्त सोसाइटी संरक्षक नियुक्त नहीं हो सकती[5]। इस मत के अनुसार 1890 के अधिनियम के कुछ उपबन्धों को देखते हुए साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3(42) में दी गई "व्यक्ति" की परिभाषा लागू नहीं होती। ये उपबन्ध हैं धारा 43 और 45।

एक अन्य उच्च न्यायालय ने कलकत्ता के निर्णय से विसम्मति प्रकट की है[6]।

हमारा यह मत है कि न्यायालय को यह शक्ति होनी चाहिए कि वह कुछ बातों का ध्यान रखते हुए किसी न्यायिक व्यक्ति को भी संरक्षक नियुक्त कर सके। इस बात पर आगे एक अध्याय में और विचार किया जाएगा।[7]

धारा 4(2)—सभी संरक्षकों को लागू होना।

4.8. अब यह भी निश्चित हो चुका है[8] कि "संरक्षक" की परिभाषा सभी वर्ग के संरक्षकों को लागू होती है अर्थात्—नैसर्गिक वसीयती और प्रमाणपत्रीय। इस परिभाषा में

---

1. भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 11।
2. उदाहरणार्थ परक्राम्य लिखतों के बारे में देखिए भारत का विधि आयोग, 11वीं रिपोर्ट (परक्राम्य लिखत) पैरा 27 और 29।
3. (क) **कासिवा** बनाम **श्रीपत**, आई० एल० आर० 19 बम्बई 697 (अधिवास की विधि)।
   (ख) **रूहेलखण्ड और कुमाउं बैंक लि०** बनाम **रो** (1885) आई० एल० आर० 7 आल० 490।
4. (क) **टि० एम० एस० फर्म** बनाम **मुहम्मद हुसैन**, ए० आई० आर० 1933 मद्रास 756।
   (ख) **बिंदैल** बनाम **बिंदैल** (1946) 1 आल ई० आर० 342, 346।
5. (क) **श्रीमती आशालता** बनाम **सोसाइटी फार प्रोमोटेन आफ चिल्ड्रन इन इंडिया** ए० आई० आर० 1930 कल० 397।
   (ख) **एम० सी० सोनी** बनाम **अरबिथनोट** ए० आई० आर० 1931 कल० 563।
6. **लक्ष्मन सिंह** बनाम **राज्य** ए० आई० आर० 1955 वी० पी० 3, 4, पैरा 5 (जगत नारायन जे० सी०) रजिस्ट्रर्ड सोसाइटी।
7. धारा 18क से सम्बन्धित विचार विमर्श देखिए।
8. **रतन** बनाम **विशन** ए० आई० आर० 1978 बम्बई 190 (अध्याय 6)।

टीका अधिनियम[1] की धारा 2(3) में "संरक्षक" में वह व्यक्ति सम्मिलित है जिसने किसी बालक की देखरेख या अभिरक्षा स्वीकार कर ली है या ले ली है ।

बालक (श्रम गिरवीकरण) अधिनियम, 1933 की धारा 2 में संरक्षक में ऐसा व्यक्ति सम्मिलित है जिसकी अभिरक्षा या नियंत्रण में कोई बालक है ।

अन्य अधिनियमों में परिभाषा ।

4.15. इन उदाहरणों में वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु हम यह उल्लेख कर दें कि निम्नलिखित केन्द्रीय अधिनियमों में संरक्षक की परिभाषाएं दी हुई हैं (या दी हुई थी) :

(क) यूरोपियन ब्रिटिश माइनर्स ऐक्ट (1874 का 13) (निरसित)

(ख) टीका अधिनियम (1880 का 13) धारा[2] 2(3)

(ग) बालक (श्रम गिरवीकरण) अधिनियम (1933 का 32) धारा[2] 2 ।

(घ) हिन्दू दत्तकग्रहण और भरणपोषण अधिनियम, 1956 की धारा 9 का स्पष्टीकरण (1क) (1962 के अधिनियम 45 द्वारा अन्तःस्थापन) जो इस प्रकार है—

"(1क) "संरक्षक" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसकी देखरेख में किसी अपत्य का शरीर या उसका शरीर और सम्पत्ति दोनों हों और उसके अन्तर्गत आते हैं—(क) अपत्य के पिता या माता की बिल द्वारा नियुक्त संरक्षक; तथा (ख) किसी न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक;"

(ङ) हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, (1956 का 32) की धारा 4[3] ।

(च) बालक अधिनियम (1960 का 60) की धारा 2 ।[4]

(छ) गर्भ का चिकित्सीय समापन अधिनियम, 1971 (1971 का 34), धारा 2 ।[4]

इंग्लैंड की परिभाषा ।

4.16. इंग्लैंड की एक कानूनी परिभाषा में बालक या कम आयु के व्यक्ति के सम्बन्ध में संरक्षक की परिभाषा देते हुए बताया गया है कि इससे अभिप्रेत है वह व्यक्ति जिसका उस बालक या कम उम्र के व्यक्ति के शरीर पर विधि के अधिकार हैं[5] । इंग्लैंड में ही एक दूसरी कानूनी परिभाषा में "संरक्षक" वह व्यक्ति है जिसके अन्तर्गत वह व्यक्ति भी आता है जिसका उस समय किसी व्यक्ति पर नियंत्रण हो[6] ।

"देखरेख" अभिव्यक्ति का प्रभाव ।

4.17. इस परिभाषा में "देखरेख" अभिव्यक्ति से एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है । क्या इसका यह अर्थ है कि यदि कोई व्यक्ति विधिक रूप से संरक्षक तो है किन्तु उसने वास्तव में कभी अवयस्क की देखरेख नहीं की है तो वह इस अधिनियम के अधीन कार्यवाही नहीं कर सकता । यह प्रश्न धारा 25 के सम्बन्ध में बड़े व्यवहारिक महत्व का है और इस पर हम धारा 25 के अधीन विचार करेंगे ।[7]

---

1. टीका अधिनियम, 1880 की धारा 2(3) ।
2. पैरा 4.14 ।
3. पैरा 4.10, आगे ।
4. पैरा 4.14, आगे ।
5. एजूकेशन ऐक्ट, 1944 (इंग्लैंड) की धारा 106(4) ।
6. मजिस्ट्रेट्स कोर्ट ऐक्ट, 1952 (इंग्लैंड) की धारा 126 ।
7. देखिए धारा 25 के सम्बन्ध में विचार-विमर्श (पैरा 7.14) ।

वस्तुतः संरक्षक की संकल्पना को विधि की विभिन्न शाखाओं द्वारा मान्यता ।

4.12. वस्तुतः संरक्षक की संकल्पना केवल हिन्दुओं में है ऐसी बात नहीं है। भारत में लागू मुस्लिम विधि भी उससे परिचित है।[1] यद्यपि वस्तुतः संरक्षक की मुस्लिम अवयस्क की सम्पत्ति का व्ययन करने की शक्तियां 1956 के अधिनियम के पहले हिन्दू विधि द्वारा स्वीकार की गई शक्तियों की अपेक्षा बहुत कम थीं। वास्तव में यह संकल्पना आवश्यकता से उत्पन्न हुई है और आवश्यकता जाति या धर्म की सीमाओं को नहीं मानती।

यह संकल्पना सिविल विधि तक ही सीमित नहीं है। उदाहरण के लिए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 361 का स्पष्टीकरण "विधि पूर्ण संरक्षक" को एक व्यापक अर्थ देता है। यह इस प्रकार है[2]:

> "इस धारा में "विधिपूर्ण संरक्षक" शब्दों के अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति आता है जिस पर ऐसे अप्राप्यवय या अन्य व्यक्ति की देखरेख या अभिरक्षा का भार विधिपूर्वक न्यस्त किया गया है।"

इससे यह प्रकट होता है कि वस्तुतः कार्य करने वाले व्यक्ति की संकल्पना नई नहीं है। ऊपर दी गई परिभाषा सम्मिलित करने वाली परिभाषा है

धारा 4(2) में संशोधन करके वस्तुतः संरक्षक को जोड़ने की सिफारिश की।

4.13. इस स्थिति में और इस समस्या के समस्त पहलुओं पर विचार करने के बाद, हम यह सिफारिश करते हैं कि विधि को साफ करने के लिए 1890 के अधिनियम की धारा 4(2) के नीचे एक उपयुक्त स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि "संरक्षक" की परिभाषा में वस्तुतः संरक्षक सम्मिलित है।

हम वस्तुतः संरक्षक की परिभाषा नहीं देना चाहते। मुम्बई के एक निर्णय में[3] न्या० क्रम्प ने यह कहा था :—

> "मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैं "वस्तुतः संरक्षक" शब्द को पसन्द नहीं करता हूं क्योंकि इसके पक्ष विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है और इसकी ठीक ठीक परिभाषा नहीं हो सकती। मैं इसका यह अर्थ लगाता हूं, जहां इसकी परिभाषा की जा सकती है कि कोई व्यक्ति जो न तो विधिक संरक्षक है और न ही न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक है, किसी अवयस्क की सम्पत्ति का प्रबन्ध अपने ऊपर इस प्रकार ले लेता है मानो वह संरक्षक हो, किन्तु यदि यह इस शब्द का वास्तविक अर्थ है तो मैं मुख्य न्यायमूर्ति से इस बात में सहमत हूं कि इसमें आचरण की निरन्तरता विवक्षित है, जिसमें सम्पत्ति के बेचने के एक कार्य से आगे चलकर सम्पत्ति का प्रबन्ध भी किया गया हो।"

इसी बात को संक्षेप में यह कह कर अभिव्यक्त किया जा सकता है कि वस्तुतः संरक्षक से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जिसकी देखरेख या अभिरक्षा में अवयस्क का शरीर या उसकी सम्पत्ति वस्तुतः है।

अन्य कानूनी उपबन्धों में "देखरेख" का तत्व।

4.14. "देखरेख" की वर्तमान परिभाषा पर उसको उलटते हुए यह ध्यान देने योग्य है कि 1890 के अधिनियम में जिस 'देखरेख' पर बल दिया गया है उसी पर गर्भ के चिकित्सीय समापन अधिनियम में भी[4] बल दिया गया है। इस अधिनियम में संरक्षक की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है कि संरक्षक वह व्यक्ति है जिसकी देखरेख में कोई अवयस्क या पागल है।" इसी प्रकार बालक अधिनियम में भी है[5] (यद्यपि यह शब्दावली अधिक व्यापक है)। बालक अधिनियम में यह उपबन्ध है कि किसी बालक के सम्बन्ध में संरक्षक से अभिप्रेत है वह व्यक्ति जिसका बालक पर तत्समय वास्तविक नियंत्रण है"।

---

1. मूसा मिया बनाम कादर बक्स (1928) 55 आई० ए० 171, 179 (पी० सी०)।
2. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 361।
3. हीरालाल बनाम गोवर्धन (1927) आई० एल० आर० 51 बम्बई 1040, 1047।
4. गर्भ का चिकित्सीय समापन अधिनियम, 1971 की धारा 2(क)।
5. बालक अधिनियम, 1960 की धारा 2(ट)।

संरक्षक की नियुक्ति और घोषणा: धारा 5 से 19

I. प्रारम्भिक

प्रविषय।

6.1. संरक्षक की नियुक्ति और घोषणा का विषय 15 धाराओं में फैला हुआ है। (धारा 5 से 19)। इनमें से कम से कम 3 धाराएं ऐसी हैं—धारा 7, धारा 17 और धारा 19—जिनके कारण सिद्धान्त या व्यवहार के महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुए हैं।

धारा 5—यूरोपियन ब्रिटिश प्रजा की दशा में मातापिता की नियुक्ति करने की शक्ति (निरसित)।

6.2. इस गुप में पहली धारा महत्व की है, यद्यपि वह निरसित हो चुकी है। वह इस प्रकार थी—

"5. (1) जहां अवयस्क यूरोपियन ब्रिटिश प्रजा है वहां नियुक्त करने वाले व्यक्ति की मृत्यु पर प्रभावी होने वाली विल या अन्य लिखत द्वारा उसके शरीर या सम्पत्ति, या दोनों के लिए, संरक्षक,—

(क) यदि पिता की मृत्यु हो चुकी है या

(ख) यदि वह कार्य करने में अक्षम है तो माता द्वारा की जा सकती है।

(2) जहां उपधारा (1) के अधीन मातापिता द्वारा एक से अधिक संरक्षक नियुक्त किए गए हैं वहां वे संयुक्त रूप से कार्य करेंगे।"

हम इस धारा का उद्धरण इस बात का उदाहरण देने के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं कि व्यक्तियों के कुछ वर्गों के बारे में स्त्री पुरुष में समानता के बारे में विधान मण्डल का क्या दृष्टिकोण होता है।

धारा 6.

6.3. धारा 6 में यह उपबन्ध है कि अप्राप्तवय की दशा में इस अधिनियम की किसी बात का यह अर्थ न लगाया जाएगा कि वह उसके शरीर या सम्पत्ति या दोनों का संरक्षक नियुक्त करने की किसी ऐसी शक्ति को ले लेती है या अल्पीकृत करती है, जो उस विधि की दृष्टि से विधिमान्य है जिसके वह अप्राप्तवय अध्यधीन है। इस धारा द्वारा जिस "नियुक्त करने की शक्ति" को बचाया गया है उसके अन्तर्गत वसीयत द्वारा संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति भी है[1]। इस शक्ति को भारत में विधान मण्डल[2] ने और न्यायालयों ने भी अनेकों बार[3] मान्यता दी है।

II. संरक्षक की नियुक्ति और घोषणा

धारा 7(1)—शक्ति के प्रयोग की कसौटी।

6.4. धारा 7(1) न्यायालय को इस बात के लिए सशक्त करती है कि वह संरक्षक नियुक्त करने का आदेश दे सके। यह धारा सम्पूर्ण अधिनियम की धुरी है। इस शक्ति का प्रयोग अल्पवयस्क के कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। इसके कारण इस धारा के प्रारम्भिक शब्दों

1. तुलना कीजिए (क) हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 9।
   (ख) भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 60।

2. उदाहरण के लिए (क) बंगाल रेगूलेशन 1799।
   (ख) मद्रास रेगुलेशन 1804 धारा 18, और 19।
   (ग) बाम्बे माइनर्स ऐक्ट 1964।

3. (क) **पिरथी लाल बनाम दुर्गा लाल** (1867) 7 डब्ल्यू आर० सी० आर० 74, 75।
   (ख) **अलीमुद्दीन मुल्ला बनाम सैफुरा बीबी** (1866) 6 डब्ल्यू० आर० एम० आर० 125।
   (ग) **अलीखान बनाम पन्नीबाई** (1894) आई० एल० आर० 19 बम्बई 832।

अध्याय 5

अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों को शक्ति का प्रदान किया जाना : धारा 4क

धारा 4क

5.1. इस अधिनियम के अधीन पहली बार में अधिकारिता जिला न्यायाधीश में निहित है। धारा 4क(1) उच्च न्यायालय को यह शक्ति देता है कि वह ऐसी अधिकारिता जिला न्यायालय के अधीन आरम्भिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करने वाले किसी अधिकारी में निहित कर सकता है। इस उपबन्ध का उद्देश्य जिला न्यायाधीश के भार को कम करना है। यह धारा सिविल जस्टिस कमेटी की सिफारिश के अनुसरण में अन्तःस्थापित की गई थी[1]।

धारा 4क में संशोधन की सिफारिश।

5.2. इस अधिनियम में अधिकारिता का प्रयोग विशेषकर अभिरक्षा के प्रश्न को निपटाते समय परिपक्व विवेक की अपेक्षा करता है और इसमें बहुत सूक्ष्म रूप से विचार करने की आवश्यकता है। इसलिए यह वांछनीय है कि यह शक्ति वरिष्ठ न्यायिक अधिकारियों को ही दी जाए। अलग अलग राज्यों में अधीनस्थ न्यायपालिका के अलग अलग नाम हैं इसलिए किसी विशेष पदनाम वाले न्यायकि अधिकारियों के लिए इस उपबन्ध को सीमित करना सम्भव नहीं है। किन्तु यह उचित होगा कि इस अधिकारिता को केवल ऐसे न्यायिक अधिकारियों को ही दिया जाए जो असीमित आरम्भिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करते हैं। सभी राज्यों में असीमित अधिकारिता का प्रयोग वरिष्ठ न्यायिक अधिकारियों द्वारा ही किया जाता है। तदनुसार हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 4क की उपधारा (1) में "आरम्भिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करने वाला" शब्दों के स्थान पर "असीमित आरम्भिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करने वाला" शब्द रखे जाएं।

---

1. उद्देश्यों और कारणों का कथन, भारत का राजपत्र (1926), भाग 5, पृ० 11–12।

धारा 7 और "सम्पत्ति" शब्द।

6.8. इस प्रश्न पर विचार करते समय कि कौनसी सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त किया जा सकता है हम यह देखते हैं कि धारा 7 में "सम्पत्ति" अभिव्यक्ति ने इस प्रश्न के बारे में कुछ विवाद उत्पन्न किया है कि क्या किसी धार्मिक संस्था का पारम्परिक न्यासी होना इस धारा के अर्थ में सम्पत्ति है।

पारम्परिक न्यासिता के बारे में निर्णयों में विरोध।

6.9. मद्रास[1] और पटना[2] के निर्णयों में संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाया गया है।

आंध्र प्रदेश के एक पूर्ण न्यायपीठ ने[3] इससे विसम्मति प्रकट की और यह निर्णय दिया कि धारा 7 में "सम्पत्ति" शब्द इतना व्यापक है कि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार हैं। "सम्पत्ति" शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ बहुत व्यापक है और यह किसी भी ऐसी सम्पत्ति तक निर्बन्धित नहीं है जिसमें अवयस्क का फायदाप्रद हित है। आंध्र प्रदेश के अनुसार यह धारा अवयस्क की सभी प्रकार की सम्पत्ति के बारे में संरक्षक की नियुक्ति का उपबन्ध करती है। इसीलिए किसी धार्मिक संस्था की आनुवंशिक न्यासिता इस धारा के अर्थ में सम्पत्ति है। अतएव आंध्र प्रदेश के अनुसार न्यायालय इस बात के लिए सक्षम है कि वह ऐसी न्यास सम्पत्ति की बाबत अवयस्क का संरक्षक नियुक्त करे जिस सम्पत्ति का अवयस्क न्यासी है। आंध्र प्रदेश के निर्णय में यह बताया गया है कि यह सिद्धान्त कि आनुवंशिक न्यासी का पद उत्तराधिकार के अनुसार तय हुई विधि का सिद्धान्त है और इसे न्यायालय ने मान्यता दी है। धारा 7 का युक्तियुक्त निर्वचन होना चाहिए जिससे हिन्दू विधि की संकल्पनाओं से इसका समन्वय हो सके।

धारा 7 के नीचे का स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित करने की सिफारिश।

6.10. हमारी राय में विधायी संशोधन द्वारा एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना वांछनीय होगा। यह आवश्यक है कि "सम्पत्ति" अभिव्यक्ति का, कम से कम वैयक्तिक विधि को प्रभावित करने वाले अधिनियम में, ऐसा निर्वचन किया जाना चाहिए कि वह वैयक्तिक विधि की संकल्पना से मेल खा सके। तदनुसार हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 7 के नीचे एक स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाए जो इस प्रकार हो सकता है।

"स्पष्टीकरण—"सम्पत्ति" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत किसी धार्मिक संस्था की आनुवंशिक न्यासिता है।"

धारा 7 और अविभक्त सम्पत्ति में हित।

6.11. धारा 7 में "सम्पत्ति" अभिव्यक्ति के प्रविषय के सम्बन्ध में ही दूसरा प्रश्न हिन्दू सहदायिकी की अविभक्त सम्पत्ति में अवयस्क के हित के बारे में है[4]। ऐसी नियुक्ति अब चार्टरित उच्च न्यायालयों तक ही सीमित है।

उच्च न्यायालयों की अधिकारिता।

6.12. चार्टरित उच्च न्यायालयों को संरक्षक नियुक्त करने की स्वतंत्र शक्ति है। यह शक्ति सुप्रीम कोर्ट के चार्टर से मिली है[5] (धारा 41 और 42), इस धारा ने न्यायालय को चांसरी के अधिकार की शक्ति दी थी विशेषकर अवयस्क और उनकी सम्पदा के लिए संरक्षक और प्रबन्धक नियुक्त करने की शक्ति। हाई कोर्टस ऐक्ट 1861 की धारा 9 द्वारा सुप्रीम कोर्ट की इस शक्ति को उच्च न्यायालयों को दे दिया गया। 1890 के अधिनियम की धारा 3 और 6 में उच्च न्यायालयों की पहले से विद्यमान शक्तियों को बनाए रखा गया[6]।

---

1. (क) **अलगप्पा** बनाम **मैंगुलबाई** आई० एल० आर० 40 मद्रास 672।
   (ख) **वेंकटाचलपति** बनाम **थिरुगनान** 33 एम० एल० जे० 297।
   (ग) **वरदाचारियन** बनाम **राजा रामकृष्णन** ए० आई० आर० 1923 मद्रास 497।
2. **किट्टी** बनाम **भूरिया** ए० आई० आर० 1933 पट० 527।
3. **ऐ सास्त्रुलू** बनाम एम० **वेंकटेस्वर राव** ए० आई० आर० 1959 ए० पी० 232 (एफ० बी०)।
4. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 12।
5. देखिए पैरा 6.12 आगे।
6. देखिए:—
   (क) **राजा आफ विजयानगरम** बनाम **सेक्रेट्री आफ स्टेट** ए० आई० आर० 1937 मद्रास 51।
   (ख) **शाम कुंआर** बनाम **महानन्द** (1892) आई० एल० आर० 19 कल० 301।

को इस अधिनियम के प्राण कहा गया है[1]। न्यायालय का समाधान हो जाना चाहिए कि आदेश अप्राप्तवय के कल्याण के लिए होगा। उसका समाधान कुछ सामग्री के आधार पर होना चाहिए निराधार नहीं। इस धारा के अधीन संरक्षक की नियुक्ति करते समय न्यायालय को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि नियुक्ति का प्रभाव यह होगा कि अवयस्कता की अवधि बढ़ जाएगी[2]।

संरक्षक घोषित या नियुक्त करने की शक्ति—प्रमाणपत्रित संरक्षक।

6.5. धारा 7 की उपधारा (1) के अधीन न्यायालय की शक्ति संरक्षक नियुक्त करने की या किसी व्यक्ति को संरक्षक के रूप में घोषित करने की है। ऐसे संरक्षकों को सामान्य बोलचाल में "प्रमाणपत्रित संरक्षक" कहा जाता है। किसी व्यक्ति को संरक्षक घोषित करने की शक्ति बहुत उपयोगी शक्ति है। उदाहरण के लिए जहां किसी वसीयती के अधीन किसी व्यक्ति को संरक्षक नियुक्त किया गया है वहां न्यायालय घोषणा करके ऐसी नियुक्ति को प्रभावी करता है।

धारा 7 की उपधारा (2) में न्यायालय द्वारा संरक्षक की नियुक्ति या घोषणा के परिणाम दिए हैं। हटाने के आदेश के बिना ही इस आदेश से यह विवक्षा होती है कि उस संरक्षक को हटाया गया है जो किसी विल या अन्य लिखत द्वारा नियुक्त नहीं किया गया है या न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित नहीं किया गया है। इसका उद्देश्य दो या अधिक संरक्षकों के बीच प्राधिकार का टकराव रोकना है[3]। प्रमाणपत्रित संरक्षक की शक्ति अनन्यकारी है।

धारा 7 की उपधारा (3) में यह अपेक्षा है कि न्यायालय यह सुनिश्चित करेंगे कि इस धारा के अधीन वहां आदेश नहीं किया जाएगा जहां किसी विल या अन्य लिखत द्वारा कोई संरक्षक नियुक्त किया गया है या किसी न्यायालय द्वारा कोई संरक्षक नियुक्त या घोषित किया गया है जब तक कि ऐसे संरक्षक की शक्तियां समाप्त न हो जाएं।

धारा 7 के प्रति निर्देश से विचारनीय प्रश्न।

6.6. अब हम धारा 7 के बारे में कुछ महत्व की बातों पर विचार करेंगे। मोटे तौर से यह प्रश्न निम्नलिखित विषयों के बारे में हैं:—

(क) कौन से व्यक्ति संरक्षक नियुक्त किए जा सकते हैं:[4]

(ख) कौन से सम्पत्ति के बारे में संरक्षक की नियुक्त की जा सकती है[5]; और

(ग) पारित किए जाने वाले आदेश की प्रकृति।[6]

धारा 7 और भारत से बाहर निवास करने वाला संरक्षक।

6.7. अधिनियम में लिखी गई पुस्तकों में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया जाता है कि क्या भारत से बाहर निवास करने वाले व्यक्ति को संरक्षक नियुक्त किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बारे में साधारण सहमति है[7] कि यह बात न्यायालयों के विवेकाधीन है और ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति का प्रतिषेध करने वाला कोई कठोर नियम स्वीकार नहीं किया जाएगा। यद्यपि इस संदर्भ में बहुत से न्यायिक विनिश्चय धारा 25 के अधीन अभिरक्षा के आवेदन से सम्बन्धित हैं फिर भी धारा 7 के अधीन संरक्षक की नियुक्ति की व्यापक अधिकारिता के सम्बन्ध में भी सिद्धान्त वही होगा। इस स्थिति में हम इस विषय पर किसी संशोधन की सिफारिश करना आवश्यक नहीं समझते। संस्थाओं को संरक्षक के रूप में नियुक्त करने के विषय पर हम आगे जा कर विचार करेंगे।

---

1. **शरद बनाम गिरीन्द्र** (1911) 15 कल० वीकली नोट्स 457, 459, 460।
2. भारतीय वयस्कता अधिनियम 1875 की धारा 3 के साथ पठित धारा 4(1)।
3. पैरा 6.56।
3. **अरुमुगन बनाम दोराईसिंह** ए० आई० आर०. 1914 मद्रास 648, 649।
4. पैरा 6.7।
5. पैरा 6.8 से 6.17।
6. पैरा 6.18।
7. **पी विलियम्स बनाम पी० सी० मार्टिन** ए० आई० आर० 1970 मद्रास 427।

गई जो पूर्ववर्ती मामले में अंगीकार किया गया था। 16 बम्बई 634[1] और 19 बम्बई 96[2] और तब से यह न्यायालय इसी प्रक्रिया का अनुसरण कर रहा है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी 50 कल० 141[3] और 59 कल० 570[4] में इसका अनुसरण किया है।

1932 में न्या० कानिया ने 34 बम्बई एल. आर. 1156[5] में यह मत प्रकट किया कि यद्यपि न्यायालय को ऐसे मामले में आदेश देने की अधिकारिता है किन्तु न्यायालय को अपनी अधिकारिता का प्रयोग विशेष परिस्थिति में ही करना चाहिए। विद्वान न्यायाधीश ने यह सही बताया कि संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब के कर्ता को विधिक आवश्यकता सम्पत्ति के फायदे के लिए सम्पत्ति का विक्रय करने या उसे बन्धक रखने की शक्ति है और क्रेता या बन्धकदार के ऊपर यह भार होता है कि वह साबित करे कि ऐसे विक्रय या बन्धक में उन शर्तों को पूरा किया गया था। विद्वान न्यायाधीश ने यह मत प्रकट किया कि क्रेता या बन्धकदार को यह शक्ति नहीं है कि वह यह बाध्यता न्यायालय पर डाल दे। मैं इस तर्क से सहमत नहीं हूं। क्रेता या बन्धकदार का दृष्टिकोण यह होता है कि जब तक उसे अच्छा हक न मिले तब तक वह क्रय या बन्धक की संविदा नहीं करता। वह न्यायालय पर कोई भार नहीं डालता है। वह केवल यह कहता है कि वह तब तक यह संव्यवहार नहीं करेगा जब तक कि उसे विधिक हक प्राप्त न हो। बहुत से मामलों में क्रेता या बन्धकदार के लिए विधिक आवश्यकता या सम्पदा के फायदे की विधिमान्यता के बारे में सन्तोषकारी दृष्टिकोण होता है। उसके लिए उस कथन की सचाई को परखना मुश्किल होता है जो कथन उससे किया जाता है और जिसके कारण आवश्यकता या फायदा उत्पन्न होता है। उसे न केवल वह करना होता है बल्कि इस बात का साक्ष्य भी परिलक्षित रखना होता है जो उस समय उपलब्ध होगा जबकि संविदा पर आने वाले वर्षों में कर्ता के अवयस्क पुत्र द्वारा एग्रीमेंट किया जाएगा। मुफस्सिल से जो अपीलें होती हैं उनके अनुभव के आधार पर मेरा यह समाधान हो गया है कि क्रेता या बन्धकदार के ऊपर यह जो भार डाला गया है वह बहुत कठिन है और अनेकों परिस्थितियों में अयुक्तियुक्त है। विक्रय या बन्धक पर उस संव्यवहार की तारीख के बीस वर्ष बाद आक्षेप किया जाता है और उसे इस आधार पर अपास्त किया जाता है कि क्रेता या बन्धकदार या उनके माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति जबकि तात्विक साक्षी उपलब्ध नहीं है, विधिक आवश्यकता या सम्पदा के फायदे की विधिमान्यता के बारे में, न्यायालय का समाधान नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए मुझे यह जानकर आश्चर्य नहीं होता कि मुम्बई के विधि व्यवसायी अपने कक्षीकारों को किसी संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब के कर्ता से कोई संव्यवहार करने की सलाह तब तक नहीं देते हैं जब तक कि वे न्यायालय से कोई आदेश प्राप्त नहीं कर लेते हैं। यह आदेश अवयस्क सदस्यों पर आबद्धकर होता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब न्यायालय को संव्यवहार की मंजूरी का आदेश देने की शक्ति है तो उचित मामलों में उसे ऐसा करना चाहिए। मुफस्सिल न्यायालयों को भी ऐसी शक्ति दी जानी चाहिए या नहीं यह ऐसा विषय है जिसकी ओर विधान मण्डल का ध्यान जाना चाहिए[6]। इस मामले में आवेदन में यह कहा गया है कि बन्धक पर धन को अच्छी शर्तों पर प्राप्त किया जा सकता है यदि न्यायालय का आदेश मिल जाए। यदि आदेश नहीं मिलेगा तो शर्तें भी अच्छी नहीं होंगी। इसलिए आदेश अवयस्क

1. जैराम लक्ष्मन (1892) आई० एल० आर० 16 बम्बई 634।
2. जगन्नाथ रामजी का मामला (1895) आई० एल० आर० 19 बम्बई 96।
3. हरिनारायन दास का मामला ए० आई० आर० 1923 कल० 409, आई० एल० आर० 50 कल० 141।
4. विजयकुमार सिंह बुदर का मामला ए० आई० आर० 1932 कल० 502, आई० एल० आर० 59 कल० 570।
5. दत्तात्रेय गोविन्द का मामला ए० आई० आर० 1932 बम्बई 537, आई० एल० आर० 56 बम्बई 519।
6. विधि में सुधार के लिए सुझाव पर ध्यान दें।

पूर्व विधि ।

6.13. पहले के विधान के अनुसार जो स्थिति थी उस पर हम विचार करेंगे। **शोभन सिंह** बनाम **जगेश्वर कौर**[1] में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह सम्प्रेक्षण किए थे :—

> "यह स्पष्ट नहीं है----------कि 1858 के अधिनियम 35 के अधीन (बंगाल माइनर्स ऐक्ट) यदि पागल मिताक्षरा विधि के अधीन संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब का सदस्य है और उसकी कोई पृथक् सम्पत्ति नहीं है तो किसी भी परिस्थिति में उसका प्रबन्धक नियुक्त नहीं किया जा सकता ।"

6.14. **भूपेन्द्र नारायण राय** बनाम **गिरीश नारायण राय**[2] में न्या० पोन्टीफेक्स ने इस अधिनियम के प्रति निर्देश करते हुए (बंगाल माइनर्स ऐक्ट, 1858) कहा था :—

> "हमें यह प्रतीत होता है कि ऐसे भी मामले हैं जहां यह आवश्यक है कि मिताक्षरा कुटुम्ब के किसी सदस्य के लिए संरक्षक नियुक्त किया जाए।"

बाम्बे माइनर्स ऐक्ट, 1864 (1864 का 20) के अधीन मुम्बई उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि ऐसे अवयस्क के अंश के लिए प्रशासन पत्र दिया जा सकता है जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का सदस्य है[3]। यह अधिनियम 1858 के अधिनियम 40 के समान था और उच्च न्यायालय का निर्णय त्रिवी कौसिल के **दुर्गाप्रसाद** बनाम **केशो प्रसाद सिंह** पर आधारित था[4]। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने[5] यह अभिनिर्धारित किया है कि 1858 के अधिनियम 40 के अधीन पिता के जीवनकाल में प्रमाणपत्र दिया जा सकता है ।

अन्य उच्च न्यायालयों की शक्ति ।

6.15. यह तो हुआ पूर्ववर्ती विधि और वर्तमान स्थिति के बारे में। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या इस अधिकारिता का विस्तार अन्य न्यायालयों पर किया जाना चाहिए।

मुम्बई का निर्णय ।

6.16. इस संदर्भ में हमने कुछ वर्ष पहले के मुम्बई[6] के एक निर्णय के कुछ सम्प्रेक्षणों पर ध्यान दिया है जो इस प्रकार हैं :—

> "मेरी राय में इस न्यायालय के पूर्व निर्णयों से यह स्पष्ट रूप से स्थापित किया जाता है कि इस प्रकार के मामले में प्रार्थित आदेश दिया जाना चाहिए। यह अधिकारिता 25 बम्बई 353[7] में पूर्ण न्यायपीठ के निर्णयों से साफ साफ स्थापित हो चुकी है। उस मामले में यह अभिनिर्धारित हुआ था कि उच्च न्यायालय के संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम के अलावा संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब के सदस्य किसी अवयस्क की सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त करने की शक्ति है चाहे अवयस्क की सम्पत्ति हिन्दू अविभक्त की अविभक्त अंश की ही क्यों न हो। उस मामले में अविभक्त ने उस कुटुम्ब की सम्पत्ति के विक्रय के लिए भी न्यायालय की मंजूरी प्राप्त की थी जिस सम्पत्ति में अवयस्क का हित था और वह मंजूरी दी भी गई थी। उस विनिश्चय से उस व्यवहार की पुष्टि हो

---

1. **शोभन सिंह** बनाम **जगेश्वर कौर** 13 सी० एल० आर० 86 (कल०) देखिए **शाम कुंआर** बनाम **महानन्द** (1892) आई० एल० आर० 19 कल० 301, 307।
2. **भूपेन्द्र नारायण राय** बनाम **गिरीश नारायण राय**, (1878) आई० एल० आर० 6 कल० 529।
3. **बाबाजी** बनाम **शेसगिरी** आई० एल० आर० 6 बम्बई 593।
4. **दुर्गाप्रसाद** बनाम **केशो प्रसाद सिंह** (1881) आई० एल० आर० 8 कल० 656, एल० आर० 9 आई० ए० 27 (पी० सी०)।
5. **धीरज कौर** बनाम **अचुध्याबक्स सिंह**, 3 एम० डब्ल्यू० पी० (आल०), 91, जिसे **शाम कुंवर** बनाम **महानन्द** (1892) आई० एल० आर० 19 कल० 301, 303 में प्रोद्धरित किया गया है।
6. महादेव कृष्ण रूपजी का मामला ए० आई० आर० 1937 बम्बई 98, 99 (मु० न्या० ब्यूमांट)।
7. मुनी लाल हरगोवन का मामला (1901) आई० एल० आर० 25 बम्बई 353, 3 बम्बई एल० आर० 411 (एफ० बी०)।

अवयस्क के कल्याण से सम्बन्धित सभी मामलों में न्यायालय का उद्देश्य ऐसी कार्यवाही करना होता है जो अवयस्क के फायदे के लिए हो और अवयस्क की सम्पत्ति के संरक्षक की नियुक्ति पर विचार इस नियम का अपवाद नहीं । ऐसी नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रतिभूति के बारे में तीन अनुकल्प हैं। (1) बिना प्रतिभूति की उपेक्षा किए नियुक्ति करना; (2) होने वाले संरक्षक से यह अपेक्षा करना कि वह अपनी नियुक्ति के लिए न्यायालय को प्रतिभूति दे। (3) यह शर्त लागू होने की प्रतिभूति देने पर ही नियुक्ति प्रवृत्त होगी।

"मेरे विचार में पहला रास्ता अवयस्क के फायदे के लिए नहीं है। यह इस देश की पद्धति के काफी विरुद्ध होगा और साथ ही ऊपर उल्लिखित सिविल मैनुअल के नियम 5 के भी विरुद्ध होगा। दूसरा रास्ता कठिनाईयों से घिरा हुआ है। उसमें प्रतिभूति इस शर्त के साथ दी जाएगी कि न्यायालय नियुक्ति करे। अनुकल्पतः वह वास्तव में दी जाएगी और उसके परिणामस्वरूप अनावश्यक व्यय होगा यदि न्यायालय यह निर्णय देता है कि नियुक्ति नहीं की जानी चाहिए। तीसरा रास्ता बहुत व्यवहारिक और सुविधाजनक है अर्थात् प्रतिभूति देने की शर्त के साथ नियुक्ति। यदि प्रतिभूति दी जाती है तो भविष्य में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या नियुक्ति मूल आदेश की तारीख से होगी। किन्तु यह प्रश्न यहां पर नहीं उठता है इसलिए हम इसका निर्णय भी नहीं करेंगे। आदेश के इस रूप में मेरे विचार में कोई गल्ती या अविधिमान्यता नहीं है इसलिए उसका क्या प्रभाव होगा यह भी सन्देह से परे है। रिसीवर को अवयस्क की जंगम सम्पत्ति का कब्जा लेने का अधिकार नहीं है जब तक कि प्रतिभूति न दे दी जाए। यदि ऐसा नहीं होता है तो न्यायालय द्वारा प्रतिभूति के लिए दिए गए निदेश का उद्देश्य विफल हो जाता है। मेरे मत के अनुसार यदि प्रतिभूति नहीं दी जाती है तो आदेश प्रवृत्त नहीं होता है जहां तक संरक्षक की नियुक्ति का प्रश्न है। मेरी राय में यह आदेश उस न्यायाधीश द्वारा रद्द नहीं किया जा सकता जिसने उसे दिया है। यदि प्रतिभूति न दिए जाने पर आदेश को समाप्त करने की वांछा की जाती है तो ऐसा आदेश किया जा सकता है जिसमें किसी विनिर्दिष्ट तारीख को या उसके पहले प्रतिभूति देने की अपेक्षा की गई हो जिससे कि यदि समय समाप्त हो जाता है तो आदेश अपने आप समाप्त हो जाएगा। इसके कारण मु० न्या० सर मेरी काउट्स ट्राटर के सामने 49 मद्रास 809 में जो कठिनाई आई थी वह उत्पन्न नहीं होगी। यह सिविल मैनुअल के नियम 7 के अनुसार होगा, जिस नियम का आजकल बहुत अधिक उल्लंघन किया जा रहा है।

सशर्त आदेश के बारे में संशोधन की आवश्यकता।

6.21. हमें यह प्रतीत होता है कि व्यवहारिक बातों पर विचार करते हुए सशर्त आदेश जारी करने की शक्ति के बारे में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। तदनुसार हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 7 का संशोधन करके इस बारे में उपयुक्त उपबन्ध किया जाए।

उचित मामलों में न्यायालय को सशर्त आदेश देने की शक्ति होनी चाहिए। शर्त ऐसी हो जिसका अनुपालन संरक्षक विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर करें। यह भी उपबन्ध किया जाना चाहिए कि आदेश तब तक प्रवृत्त नहीं होगा जब तक कि शर्त पूरी नहीं हो जाती है।

हम धारा 7 में एक नई उपधारा अन्तःस्थापित करने की सिफारिश इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं:

"(4) समुचित मामलों में, न्यायालय संरक्षक की नियुक्ति का आदेश इस शर्त पर कर सकता है कि संरक्षक विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर विनिर्दिष्ट शर्त का अनुपालन करेगा; और जहां ऐसा आदेश पारित किया जाता है वहां आदेश तब तक प्रवृत्त नहीं होगा जब तक कि न्यायालय द्वारा प्रारम्भ में विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर या बाद में न्यायालय द्वारा विस्तारित अवधि के भीतर ऐसी शर्त पूरी नहीं कर दी जाती है।"

के फायदे के लिए होगा और यदि आवश्यक तथ्य साबित कर दिए जाते हैं तो मेरी राय में न्यायालय को आदेश देने में नहीं हिचकिचाना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि न्यायालय को इस बारे में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए कि मामला उचित है। जैसा मु० न्या० कानिया ने बताया था प्रबन्धक का साक्ष्य हितबद्ध होता है और हमेशा उसकी परीक्षा करना सम्भव नहीं होता किन्तु यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि संव्यवहार अवयस्क के फायदे के लिए है तो सहमति देने से इंकार नहीं किया जाना चाहिए।"

सिफारिश - अविभक्त सम्पत्ति में अवयस्क के हित के बारे में कोई परिवर्तन न किया जाए।

6.17. इसमें संदेह नहीं कि संरक्षक कार्यवाही के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, अर्थात् बालक का संरक्षण, अविभक्त सम्पत्ति में अवयस्क के हित के लिए संरक्षक की नियुक्ति के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस अधिकारिता को सिविल न्यायालयों को विस्तारित करने पर कुछ खतरे हैं। अविभक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में हित के लिए संरक्षक की नियुक्ति करने में बहुत सी बातों को बारीकी से देखना होता है। उच्च न्यायालय की शक्ति को बनाए रखना सभी के फायदे लिए है। अवयस्क के लिए भी और अन्य अंशधारियों के लिए भी। मुम्बई के एक निर्णय में यह बात कही गई थी। किन्तु हम इसके पक्ष में नहीं हैं कि इसी प्रकार अधिकारिता अन्य न्यायालयों को भी दी जाए। यह न्यायालय परस्पर विरोधी तत्वों पर विचार नहीं कर पाएंगे और परिपक्व विवेक भी लागू नहीं कर पाएंगे जिसकी कि ऐसे मामलों में आवश्यकता होती है।

धारा 7 और सशर्त आदेश।

6.18. इससे धारा 7 में "सम्पत्ति" के बारे में विचार विमर्श समाप्त हो जाता है। धारा 7 के अधीन पारित आदेश की प्रकृति के बारे में इस प्रश्न पर कुछ विवाद है कि क्या संरक्षकता के लिए सशर्त आदेश पारित किया जा सकता है। मद्रास के मत के अनुसार[2] इस प्रकार का सशर्त आदेश, "प्रतिभूति देने पर अर्जीदार को अवयस्क की सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त किया जाता है" विधिमान्य नहीं है, किन्तु मुम्बई के मत के अनुसार[3] ऐसा हो सकता है। लाहौर[4] का भी यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है।

मद्रास में सम्प्रेक्षण।

6.19. मद्रास के मामले में[5] जिसमें सशर्त आदेश को "निलम्बित" आदेश कहा गया था निम्नलिखित सम्प्रेक्षण किए गए थे :—

> "इन निलम्बित आदेशों का, वे विधिमान्य हैं या नहीं, यह दोष है कि ये विषय उस न्यायाधीश के सामने जाता है जो निलम्बित आदेश करता है। और तब कागजात उस कार्यालय में चले जाते हैं जहां यह देखना किसी का काम नहीं है कि क्या हो रहा है।
>
> आदेश का पालन नहीं किया जाता है और तब किसी को यह खबर मिलती है कि जिस अवयस्क का संरक्षण किया जा रहा था वह वयस्क हो गया है और न्यायालय शक्तिहीन होता है क्योंकि संरक्षक ने निदेशों का पालन नहीं किया है और न्यायालय ने इस विषय में कोई नियंत्रण नहीं रखा क्योंकि आदेश ही इस प्रकार का था। उसने संरक्षक को बुलाकर यह नहीं पूछा कि तुमने प्रतिभूति क्यों नहीं दी।"

बम्बई का मत।

6.20. इस विषय पर मुम्बई के एक निर्णय में इस विषय पर इस प्रकार कहा गया है।[6]

---

1. जैराम लक्ष्मण, (1892) आई० एल० आर० 16 बम्बई 634, 636।
2. नाटिया वेंकटेश पेरुमल का मामला ए० आई० आर० 1927 मद्रास 36 (एफ० बी०)।
3. जय सिंह बनाम प्रताप सिंह ए० आई० आर० 1945 बम्बई 943, 245, 247 (मामले का पुनरीक्षण)।
4. शाम दास बनाम उमर दीन ए० आई० आर० 1930 लाहौर 497 (एफ० बी०)।
5. नाटिया वेंकटेश पेरुमाल ए० आई० आर० 1927 मद्रास 36, 37 का मामला।
6. जय सिंह बनाम प्रताब सिंह ए० आई० आर० 1945 बम्बई 243, 245, 247।

अप्राप्तवय के मामूली तौर से निवास करने का स्थान क्या है यह शुद्ध रूप से तथ्य का प्रश्न है। इसमें विधिक निवास या आन्वयिक निवास का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। ऐसी कोई उपधारणा नहीं है कि संरक्षक का निवास ही अवयस्क का निवास है यद्यपि प्रायः ऐसा होता है[1]।

यह तथ्य का प्रश्न है इसलिए यद्यपि इस अभिव्यक्ति के बारे में बहुत से निर्णय हैं फिर भी इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

6.27. धारा 10 संरक्षकता के लिए आवेदन के प्ररूप के बारे में है और इसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। धारा 10।

6.28. धारा 11 संरक्षकता के लिए आवेदन के स्वीकार किए जाने की प्रक्रिया के बारे में है और इसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। धारा 11।

6.29. धारा 12 इस प्रकार है :—

धारा 12 - अप्राप्तवय के पेश किए जाने और शरीर तथा सम्पत्ति के अन्तरिम संरक्षण के लिए अन्तरवर्ती आदेश देने की शक्ति।

"12. (1) न्यायालय निदेश दे सकेगा कि वह व्यक्ति, यदि कोई हो, जिसकी अभिरक्षा में अप्राप्तवय है उसे ऐसे स्थान और समय पर और ऐसे व्यक्ति के समक्ष, जिसे उस न्यायालय ने नियुक्त किया है, पेश करे या कराए, और न्यायालय अप्राप्तवय के शरीर या सम्पत्ति की अस्थायी अभिरक्षा और संरक्षण के लिए ऐसा आदेश दे सकेगा जैसा वह उचित समझे।

(2) यदि अप्राप्तवय ऐसी लड़की है जिसे लोक समक्ष आने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए, तो उपधारा (1) के अधीन उसके पेश किए जाने के निदेश में यह अपेक्षा होगी कि वह देश की रूढ़ियों और रीतियों के अनुसार पेश की जाए।

(3) इस धारा की कोई भी बात—

(क) किसी अप्राप्तवय लड़की को ऐसे व्यक्ति की, जो इस आधार पर कि वह उसका पति है उसका संरक्षक होने का दावा करता है, अस्थायी अभिरक्षा में रखने को न्यायालय को तब के सिवाय, प्राधिकृत न करेगी जब कि वह लड़की अपने माता पिता की, यदि कोई हो, सम्पत्ति से उसकी अभिरक्षा में पहले से ही है, अथवा

(ख) उस व्यक्ति को, जिसे अप्राप्तवय की सम्पत्ति की अस्थायी अभिरक्षा और संरक्षण न्यस्त है, प्राधिकृत न करेगी कि वह किसी व्यक्ति की जो किसी भी ऐसी सम्पत्ति पर कब्जा रखता है, विधि के सम्यक् अनुक्रम से अन्यथा बेकब्जा करे।"

धारा 12-धारा 25 के अधीन आने वाली दशाओं में अन्तरिम आदेश - सिफारिश।

6.30. जहां कार्यवाही संरक्षण की नियुक्ति या घोषणा के लिए नहीं किन्तु धारा 25 के अधीन अभिरक्षा के लिए है वहां इस प्रश्न पर कुछ अनिश्चितता है कि क्या अवयस्क के संरक्षण के लिए अन्तरिम आदेश और धारा 12 के अधीन शरीर और सम्पत्ति के संरक्षण के लिए अन्तरिम आदेश विधिपूर्णतः दिया जा सकता है। धारा 12 के शब्दों के अनुसार वह संरक्षकता की कार्यवाही के लम्बित रहने के दौरान ही लागू होती है ऐसा एक मत है[2]। किन्तु दूसरा मत यह भी है[3] कि वह इस प्रकार सीमित नहीं है। एक उच्च न्यायालय[4] ने न्याय को सम्मुख रखते हुए एक मध्यम मार्ग भी निकाला है। उसने न्यायालय की अन्तर्निहित अधिकारिता का प्रयोग किया है।

---

1. (क) **चौधरी** बनाम **चौधरी** (1974–75) 79 सी० डब्ल्यू० एन० 784 (इसमें निर्णयों का पुनर्विलोकन किया गया)।
   (ख) **हरिहर** बनाम **सुरेश** ए० आई० आर० 1978 ए० पी० 12, 18, पैरा 6।
2. **इंदर सिंह** बनाम **करतार** ए० आई० आर० 1929 लाहौर 487, 488।
3. (1957) एम० पी० केसेज 202 (1957) जबलपुर ला जर्नल, 336, जिसमें **नजीर बेगम** बनाम **गुलाम कादिर** ए० आई० आर० 1936 लाहौर 313 का अवलम्ब लिया गया।
4. **रुकमनिबेन** बनाम **नर्मदा** ए० आई० आर० 1962 गुजरात 227, 228, पैरा 5, 6 (न्या० भगवती)।

III. आवेदन और उस पर की जाने वाली कार्यवाहियां

धारा 8 ।

6.22. अब हम धारा 8 पर आते हैं जिसमें यह उपबन्ध है कि धारा 7 के अधीन आदेश उस धारा में गिनाए गए व्यक्तियों के आवेदन पर ही किया जाएगा। ये व्यक्ति हैं, अप्राप्तवय का संरक्षक बनने के लिए वांछा करने वाला या दावा करने वाला व्यक्ति, अप्राप्तवय का कोई भी नातेदार या मित्र, अवयस्क के वर्ग की बाबत प्राधिकार रखने वाला कलक्टर या उस जिले का कलक्टर।

"नातेदार या मित्र" अभिव्यक्ति से धारा 8 (ख) में वास्तव में अभिप्रेत है ऐसा व्यक्ति जो, नातेदार या मित्र है, और जिसका अवयस्क में फायदाप्रद हित है[1]।

खण्ड (खख) जोड़ने की सिफारिश ।

6.23. इस धारा में स्वयं अवयस्क को आवेदन करने का अधिकार नहीं दिया गया है। साधारण मत[2] यह है कि धारा 8 में आवेदन के बिना न्यायालय इस विषय पर कार्यवाही नहीं कर सकता। यह ध्यान देने योग्य है कि इंग्लैंड में कोई अवयस्क जिसकी सम्पत्ति है और जिसके मातापिता की मृत्यु हो गई है और जिसका कोई वसीयती संरक्षक नहीं है, पुरुष की दशा में 14 वर्ष की आयु और स्त्री की दशा में 12 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर स्वयं अपना संरक्षक चुन सकता है[3]।

धारा 8 (खख) का अन्तःस्थापन किया जाए।

6.24. भारत में हम उस सीमा तक नहीं जाना चाहते किन्तु अवयस्क को संरक्षक की नियुक्ति के लिए आवेदन करने का अधिकार देना उपर्युक्त रहेगा। ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें यदि अवयस्क के कल्याण में रुचि लेने वाले किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति नहीं की जाती है तो अवयस्क के हित की क्षति होगी।

सिफारिश ।

6.25. इस तार्किक आधार पर हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 8 में निम्नलिखित खण्ड अन्तःस्थापित किया जाए :--

"(खख) अवयस्क, यदि वह पुरुष है और उसने 14 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है या यदि वह स्त्री है और उसने 12 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है।"

धारा 9 - आवेदन ग्रहण करने की अधिकारिता रखने वाला न्यायालय ।

6.26. धारा 9 इस प्रकार है–

9. (1) यदि आवेदन अप्राप्तवय के शरीर के संरक्षकता के बारे में है तो वह या तो उस जिला न्यायालय में किया जाएगा जिसकी उस स्थान में अधिकारिता है जहां अप्राप्तवय मामूली तौर से निवास करता है।

(2) यदि आवेदन अप्राप्तवय की सम्पत्ति की संरक्षकता के बारे में है तो वह या तो उस जिला न्यायालय में किया जा सकेगा, जिसकी उस स्थान में अधिकारिता है जहां अप्राप्तवय मामूली तौर से निवास करता है या उस जिला न्यायालय में किया जा सकेगा, जिसकी अधिकारिता ऐसे स्थान में है, जहां उसकी सम्पत्ति है।

(3) यदि अप्राप्तवय की सम्पत्ति की संरक्षकता के बारे में आवेदन ऐसे जिला न्यायालय में किया गया है, जो उस स्थान में अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायालय से भिन्न है, जिसमें अप्राप्तवय मामूली तौर से निवास करता है, तो यदि उस न्यायालय की यह राय है कि उसका निस्तारा अधिकारिता रखने वाले किसी अन्य जिला न्यायालय द्वारा अधिक न्यायासंगत तौर पर या सुविधा से किया जा सकेगा तो वह उस आवेदन को लौटा सकेगा।"

---

1. थंगपांइयन बनाम के० बी० नेहर ए० आई० आर० 1965 मद्रास 368।
2. (क) सकीना बनाम मुहम्मद ए० आई० आर० 1928 लाहौर 456।
   (ख) जैयबन्त बनाम गजाधर (1921) आई० एल० आर० 38 कल० 783, 785।
3. हैल्सबरी 4था संस्करण, जिल्द 24, पृ० 224, पाद टिप्पण 5, जिसमें एक्सपार्टी एडवर्ड्स (1747) 3 ए० एण्ड ई० 519, और ब्राऊन विल (1881) 18 अध्याय डी 61, 72, 76 (सी० ए०) का मामला और अन्य मामले प्रोद्धरित किए गए।

IV. पृथक् संरक्षक

धारा 15।

6.34. धारा 15 पृथक् संरक्षकों की नियुक्ति या घोषणा के बारे में है। उपधारा (1) दो या अधिक संरक्षकों की नियुक्ति को प्राधिकृत करती है यदि वैयक्तिक विधि के अनुसार ऐसा किया जा सकता है। उपधारा (4) न्यायालय को शरीर और सम्पत्ति के अलग अलग संरक्षक नियुक्त या घोषित करने के लिए सशक्त करती है। उपधारा (5) न्यायालय को इस बात के लिए सशक्त करती है कि यदि अवयस्क की अनेक सम्पत्तियां हैं तो एक या अधिक सम्पत्ति के लिए अलग अलग संरक्षक नियुक्ति करे।

धारा 15—संयुक्त संरक्षक।

6.35. इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि यह अभिनिर्धारित हुआ[1] है कि हिन्दू ला में ऐसी कोई बात नहीं है जो न्यायालय को अवयस्क के शरीर के लिए एक से अधिक संरक्षक नियुक्त करने से निवारित करती हो। इस सिद्धान्त के अनुसार कलकत्ता के एक निर्णय में[2] न्यायालय ने संयुक्त संरक्षक नियुक्त किया जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि एक संरक्षक (माता) ने जो वचन दिया था, कि वह बच्चों का हिन्दू धर्म के अनुसार लालन पालन करेगी, उस वचन का पालन हो[3]।

यह स्पष्ट नहीं है कि 1890 के अधिनियम का कोई उपबन्ध क्या अभिव्यक्त रूप से संयुक्त संरक्षकों के लिए उपबन्ध करता है। किन्तु विल के अधीन की गई नियुक्ति के अधीन संयुक्त संरक्षक हो सकते हैं।

हाल ही के एक इंग्लैंड के निर्णय में[4] यह अधिकथित किया गया कि जहां मातापिता सब दृष्टि से निष्कलंक हों वहां यह युक्तियुक्त रूप से अनुमान किया जा सकता है कि वे दोनों अपने बच्चों के बारे में एक दूसरे से सहयोग करने में सक्षम हैं और यह बालकों के हित में होगा कि उन्हें संयुक्त अभिरक्षा दी जाए।

हम धारा 15 में किसी परिवर्तन की सिफारिश नहीं करते हैं।

धारा 16।

6.36. धारा 16 न्यायालय की अधिकारिता से परे की सम्पत्ति के लिए संरक्षक की नियुक्ति या घोषणा के बारे में है। ऐसे मामलों में जिस स्थान में सम्पत्ति स्थित है वहां अधिकारिता रखने वाला न्यायालय आदेश के प्रमाणित प्रतिलिपि के पेश किए जाने पर नियुक्त व्यक्ति को सम्यक् रूप से नियुक्ति के आधार पर प्रतिसंगृहीत करेगा और आदेश को प्रभावशील करेगा।

इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

V. धारा 17 और 1956 के अधिनियम के अधीन तथा इंग्लैंड की विधि के अधीन संरक्षक नियुक्त करते समय विचारणीय बातें।

धारा 17—संरक्षक नियुक्त करने में न्यायालय द्वारा विचारणीय बातें।

6.37. अब हम इस अधिनियम की उस धारा पर आते हैं जो इस अधिनियम का सबसे महत्व का उपबन्ध है—

धारा 17 यह धारा उन बातों के बारे में है जो संरक्षक नियुक्त करने में न्यायालय द्वारा विचारणीय हैं।

यह विषय इसलिए अधिक महत्व का है कि आजकल इस बात पर बहुत विचार विमर्श हो रहा है कि विचारणीय बातों में अधिक से अधिक महत्व दिया जाए[5]।

---

1. **चिरोंजी बनाम पूनम चन्द**, 48 इंडियन केसेज 75 (नागपुर)।
2. **हिजपाद बनाम बेल्यू**, 20 कलकत्ता वीकली नोट्स 608, 620।
3. **कान्तलताउम्माल बनाम रंगास्वामी पिल्लई** ए० आई० आर० 1924 मद्रास 327।
4. **जस्सा बनाम जस्सा** (1972) 2 आल० ई० आर० 600, 603, 604, 695, जिसमें डब्ल्यू (जैसी), (1963) 3 आल० ई० आर० 459 का अनुसरण किया गया।
5. पैरा 1.8 ऊपर।

हमारी राय में धारा 12 में एक अभिव्यक्त उपबन्ध करना वांछनीय होगा। उपबन्ध करके धारा 25 के अधीन कार्यवाहियों के बारे में ऐसी शक्ति को मान्यता दी चाहिए (धारा 12 में उपबन्धित प्रकृति की शक्ति)।

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 13।

6.31. धारा 13 में यह उपबन्ध है कि आवेदन की सुनवाई के लिए नियत को, या उसके पश्चात् यथाशक्यशीघ्र, न्यायालय वह साक्ष्य सुनेगा, जो आवेदन के सम में या विरोध में दिया जाए।

यह धारा न्यायालय द्वारा साक्ष्य लेने पर रोक नहीं लगाती है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है कि विधि आयोग ने सिविल प्रक्रिया संहिता पर अपनी रिपोर्ट में कुटु से सम्बन्धित मामलों में न्यायालय द्वारा जांच किए जाने पर बल दिया था[1]। संशोधि सिविल प्रक्रिया संहिता[2] में यह उपबन्ध है कि कुटुम्ब से सम्बन्धित वादों या कार्यवाहि में यह न्यायालय का कर्तव्य होगा कि युक्तियुक्त रूप से वादी और प्रतिवादी द्वारा अभि कथित तथ्यों की जांच करे।

बाल कल्याण विशेषज्ञों से परामर्श।

6.32. इस अधिनियम में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो न्यायालय को संरक्षक नियुक्त करने के पहले बाल कल्याण विशेषज्ञ से परामर्श करने के लिए संशक्त करे। किन्तु सिविल प्रक्रिया संहिता में इस प्रकार का उपबन्ध किया गया है[3]।

धारा 14—उपधारा (3) के पुनरीक्षण की सिफारिश।

6.33. धारा 14 विभिन्न न्यायालयों में एक ही समय चलने वाली कार्यवाहियों के बारे में है। यह ध्यान देने योग्य है कि यह धारा अवयस्क की सम्पत्ति के संरक्षक की नियुक्ति के आवेदन को भी लागू होती है।[4]

इस धारा की उपधारा (3) उन मामलों के बारे में है जहां न्यायालय एक उच्च न्यायालय के अधीनस्थ नहीं है और यह उपबन्ध करती है कि न्यायालय ऐसे मामलों को अपने अपने राज्यों को रिपोर्ट करेंगे और उनसे प्राप्त आदेशों के अनुसार अपना मार्ग-दर्शन करेंगे। राज्य सरकारों को इस शक्ति का दिया जाना न्यायपालिका की स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं है। भारत में इसके बाद के विधानों में ऐसी परिस्थितियों में एक सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण देखने में आता है[5]। अधिक अच्छा होगा कि यह शक्ति उस उच्च न्यायालय को दे दी जाए जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वह न्यायालय स्थित है जिसमें पूर्ववर्ती कार्यवाहियां की गई हैं। अतएव हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 14(3) का इस प्रकार पुनरीक्षण किया जाए :—

"(3) अन्य किसी दशा में जिसमें उपधारा (1) के अधीन कार्यवाहियां रोकी जाती हैं न्यायालय उच्च न्यायालय को रिपोर्ट करेंगे और वह उच्च न्यायालय जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमा के भीतर वह न्यायालय स्थित है जिसमें कार्यवाहियां पहली बार की गई थीं तो यह अवधारित करेगा कि किस न्यायालय में अवयस्क के संरक्षक की नियुक्ति या घोषणा की बाबत कार्यवाही चलेगी।"

---

1. भारत का विधि आयोग 54वीं रिपोर्ट, अध्याय 32क।
2. सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 का आदेश 32क, नियम 5(4)।
3. तुलना कीजिए, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 32क।
4. पी० पुलम्मा बनाम एम० वेंकटसुबबईया ए० आई० आर० 1963 ए० पी० 93।
5. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 23(3) देखिए।

(ग) उस अप्राप्तवय के, जिसकी सम्पत्ति उसके शरीर का संरक्षक नियुक्त करने के लिए सक्षम प्रतिपाल्य अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है,

शरीर का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे।"

हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 के अधीन पिता अवयस्क का नैसर्गिक संरक्षक है। किन्तु उस अधिनियम की धारा 13 में यह अभिव्यक्त उपबन्ध है कि किसी व्यक्ति को न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त या घोषित किया जाते समय अवयस्क का कल्याण सर्वोपरि विचार होगा।

धारा 13 नीचे प्रोद्धरित की जा रही है[1];

"अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि होगा।

13. (1) न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति के किसी हिन्दू अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित किए जाने में अप्राप्तवय के कल्याण पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाएगा।

(2) यदि किसी भी व्यक्ति के विषय में न्यायालय की यह राय हो कि उसके संरक्षक होने में अप्राप्तवय का कल्याण न होगा तो वह व्यक्ति इस अधिनियम के उपबन्धों के आधार पर या ऐसी किसी भी विधि के आधार पर, जो हिन्दुओं में विवाहार्थ संरक्षकता के बारे में हो, संरक्षकता का हकदार न होगा।"

1956 के अधिनियम की धारा 2 द्वारा कुछ कठिनाई उत्पन्न होती है[2]। इसमें यह उपबन्ध है कि अधिनियम के उपबन्ध 1890 के अधिनियम के अतिरिक्त होंगे। साधारणतया यह मत है कि 1890 के अधिनियम की धारा 19 के उपबन्धों और 1956 के अधिनियम की धारा 6 के उपबन्धों का एक साथ अर्थान्वयन किया जाना चाहिए[3]।

विचारणीय प्रश्न।

6.39. यह कानूनी उपबन्धों की एक रूपरेखा है। इन कानूनी उपबन्धों पर हम धारा 17 के संदर्भ में संरक्षकता के न्यायनिर्णयन के बारे में विधि के सुधार की आवश्यकता पर जांच के दौरान विचार करेंगे।

वे प्रश्न जिन पर हम धारा 17 और मिलते जुलते कानूनी उपबन्धों के सम्बन्ध में विचार करेंगे निम्नलिखित हैं :—

(1) **संरक्षक की नियुक्ति**—विभिन्न उपबन्धों में "अवयस्क के कल्याण" और अन्य संकल्पनाओं को अपेक्षाकृत क्या महत्व दिया जाना चाहिए[4]।

(2) **अवयस्क का कल्याण**—इस अभिव्यक्ति का जैसी वह दोनों अधिनियमों में पाई जाती है, विषद् विवेचन जिससे कि बालक के कल्याण की आधुनिक संकल्पना इससे प्रकट हो सके[5]।

(3) **प्रक्रिया**—न्यायालय को संरक्षक या अभिरक्षक से रिपोर्ट मांगने की शक्ति का दिया जाना[6]।

(4) **अभिरक्षा**—वह आयु जब अवयस्क की अभिरक्षा माता के पास होनी चाहिए जहां तक यह विषय विनिर्दिष्ट कानूनी उपबन्ध से विनियमित है[7]।

---

1. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 13।
2. तुलना कीजिए **रतन** बनाम **विशन** ए० आई० आर० 1978 बम्बई 190।
3. **लालता प्रसाद** बनाम **गंगा सहाय** ए० आई० आर० 1973 राजस्थान 93।
4. पैरा 6.40 और 6.48 नीचे।
5. पैरा 6.41 से 6.48 नीचे।
6. पैरा 6.50 नीचे।
7. पैरा 6.49 नीचे।

अवयस्क का कल्याण, उसकी वैयक्तिक विधि और उस विधि के अधीन संरक्षक के अधिकार तथा माता-पिता या संरक्षक का दावा करने वाले अन्य व्यक्ति का उपयुक्त होना। इस विषय के कुछ पहलुओं पर धारा 19 में भी विचार किया गया है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि 1956 में जो विधान पारित किया गया था और जो संरक्षक के विषय पर हिन्दुओं को लागू होता है उसमें एक ऐसा भी उपबन्ध है जो यह दर्शाता है कि इस सन्दर्भ में क्या दृष्टिकोण अपनाया गया है[1]। वह विधान भी वर्तमान दृष्टिकोण के अनुसार कुछ मामलों में अपर्याप्त है[2]।

समन्वय की आवश्यकता।

6.38. भारतीय विधान में संरक्षकता की कसौटी के सम्बन्ध में कानूनी नियमों के बारे में ऐसा दृष्टिकोण दिखाई पड़े जो गुणागुण के आधार पर उचित हो, पर्याप्त हो और संरचना की दृष्टि से समन्वयपूर्ण हो तो यह आवश्यक है कि इस विषय की गहराई से परीक्षा की जाए। तदनुसार वर्तमान विचार विमर्श 1890 के अधिनियम की धारा 17 पर केन्द्रित करते हुए भी हम उक्त अधिनियम की धारा 19 पर भी तथा 1956 के अधिनियम के समान उपबन्धों पर भी विचार करेंगे।

सबसे पहले हम 1890 के अधिनियम की धारा 17 उद्धृत करते हैं।

धारा 17 - संरक्षक नियुक्त करने में न्यायालय द्वारा विचारणीय बातें।

"17. (1) अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित करने में इस धारा के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए, न्यायालय उस विधि से संगत, जिसके अप्राप्तवय अध्यधीन है, उस बात से मार्गदर्शित होगा, जो उन परिस्थितियों में अप्राप्तवय के कल्याण के लिए प्रतीत हो।

(2) यह विचार करने में कि अप्राप्तवय के लिए क्या कल्याणकर होगा, न्यायालय अप्राप्तवय की आयु, लिंग और धर्म, प्रस्थापित संरक्षक के शील और सामर्थ्य तथा अप्राप्तवय से रक्त सम्बन्ध में उसकी निकटता, मृत जनक की इच्छाओं को, यदि कोई हों, और अप्राप्तवय से या उसकी सम्पत्ति से प्रस्थापित संरक्षक के किसी वर्तमान या पूर्वतन संबन्धों को ध्यान में रखेगा।

(3) यदि अप्राप्तवय इतनी आयु का है वह बुद्धिमत्तापूर्ण अधिमान कर सकता है तो न्यायालय उस अधिमान पर विचार कर सकेगा।

* * * *

(5) न्यायालय किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध संरक्षक नियुक्त या घोषित नहीं करेगा।

1890 के अधिनियम की धारा 19 इस प्रकार है :—

"19. इस अध्याय की कोई भी बात न्यायालय को प्राधिकृत न करेगी कि वह ऐसे अप्राप्तवय की, जिसकी सम्पत्ति प्रतिपाल्य अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है, सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे, अथवा—

(क) उस अप्राप्तवय के, जो विवाहिता नारी है और जिसका पति न्यायालय की राय में उसके शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, अथवा

(ख) उस अप्राप्तवय के, जिसका पिता जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, अथवा

---

1. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 13 (पैरा 6.42 आगे)।
2. पैरा 6.50, आगे (धारा 6)।

अधीन पिता का कोई अधिकार जो ऐसी अभिरक्षा, लालन-पालन, प्रशासन या उपयोजन के बारे में है, माता के अधिकार से ऊपर है या माता का कोई दावा पिता के अधिकार से ऊपर है।"

1973 के अधिनियम[1] में माता-पिता के अधिकार में समानता इस प्रकार रखी गई है :—

"1. (1) अवयस्क की अभिरक्षा या लालन-पालन के सम्बन्ध में, और अवयस्क की या उसके लिए न्यासतः धारित सम्पत्ति के प्रशासन के सम्बन्ध में या ऐसी सम्पत्ति की आय के उपयोजन के सम्बन्ध में, माता को वही अधिकार और प्राधिकार होगा जो विधि के अनुसार पिता को होता है और माता और पिता के अधिकार और प्राधिकार समान होंगे और उनका प्रयोग किसी एक द्वारा बिना दूसरे के किया जा सकेगा।"

इसके अतिरिक्त प्रतिपाल्य के बारे में उच्च न्यायालय की उसमें निहित अधिकारिता भी है।

अन्त में यह भी सुसंगत है कि हैबियस कार्पस की विधि के प्रयोग से विवेक की आयु से कम आयु के बालकों को प्राप्त किया जा सकता है[2]।

संरक्षकता और अभिरक्षा के बारे में विधान के विकास के साथ-साथ बालकों के कल्याण के लिए विधान बहुत जल्दी-जल्दी बने हैं। इस विषय पर नवीनतम अधिनियम चिल्ड्रन ऐक्ट, 1975 के अधिनियमित किए जाने पर विधि की यह शाखा इंग्लैंड में भी जटिल हो गई है।

बालकों से सम्बन्धित विधान का उद्देश्य उनकी देखभाल, संरक्षण, भरण-पोषण, कल्याण, प्रशिक्षण, शिक्षा और उपेक्षित और अपचारी बालकों के पुनर्वास के लिए और अन्तिम प्रकार के बालकों के विचारण के लिए उपबन्ध करना है। तदनुसार बालक अधिनियमों में प्रारंभ में ऐसे बालकों के लिए एक विशेष तंत्र की स्थापना की गई थी।

अब इस प्रकार के विधान का आधार बहुत बढ़ गया है। 1975 के अधिनियम में कुछ नए उपबन्ध हैं। इसमें एक नई संकल्पना है "अभिरक्षकता" इस अधिनियम में एक साधन है जिसके द्वारा (दत्तक ग्रहण के अनुकल्प के रूप में) नातेदार या अन्य व्यक्ति जो दीर्घकालिक तौर पर बालकों की देखभाल कर रहे हों ऐसे बालकों की विधिक अभिरक्षकता प्राप्त कर सकते हैं। इस अधिनियम के अधीन अभिरक्षकता आदेश से बालक की विधिक अभिरक्षकता आवेदक को मिल जाती है जिसे बालक का अभिरक्षक कहा जाता है। प्रकटतः अभिरक्षक की वैसी ही स्थिति होती है जो उस माता-पिता की होती है जिसकी अभिरक्षा में बालक होता है। किन्तु उसे संरक्षक नहीं कहा जाता। हम यह कह सकते हैं कि अभिरक्षकता, संरक्षकता का नया रूप है यद्यपि इसमें संरक्षक से कम अधिकार और शक्तियां दी जाती हैं और यह अभिरक्षा से मिलती-जुलती है किन्तु उससे भिन्न भी है।

इंग्लैंड में बालकों की अभिरक्षा प्राप्त करने के लिए हैबियस कार्पस का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह रिट उस पक्षकार के आवेदन पर जारी की जाती है जो अभिरक्षा चाहता है और उसके विरुद्ध होती है जिसके नियंत्रण में कोई बालक होता है[3]। सैद्धान्तिक रूप से इसका आधार अवैध अवरोध को दूर करना है। अभिरक्षा के मामलों में कौटम्बिक विधि के सामान्य नियम लागू होते हैं और इस विषय की सुनवाई "फैमिली

1. गार्जियनशिप ऐक्ट, 1973 की धारा 1(1)।
2. देखिए नीचे।
3. शार्प ला आफ हैबियस कार्पस (1976), पृ० 168, 169।

धारा 17 और 19 को एक साथ पढ़ने पर उनका प्रभाव।

6.40. ऊपर रखे गये पहले प्रश्न के बारे में[1] इस बात पर ध्यान देना उचित होगा कि 1890 के अधिनियम की धारा 17 और 19 का मिलता-जुलता प्रभाव क्या है[2]। **उस विधि से संगत जिसके अप्राप्तवय अध्यधीन हैं** (धारा 17) संरक्षक की नियुक्ति में अप्राप्तवय के कल्याण पर ध्यान दिया जाना चाहिए (धारा 17)। इस अधिनियम के पाठ के अनुसार धारा 19(क) और धारा 19(ख)--पति या पिता के अधिमान्य अधिकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती जब तक कि न्यायालय की यह राय न हो कि पति या पिता संरक्षक होने के लिए अयोग्य नहीं है।

यह ध्यान देने योग्य है कि न्यायालयों ने इस बारे में उदार दृष्टिकोण अपनाया है। उदाहरण के लिए हाल ही के एक निर्णय में[3] उच्चतम न्यायालय ने 11 वर्ष के एक बालक के कल्याण को ध्यान में रखते हुए माता को उसका संरक्षक नियुक्त किया। इस मामले में पिता के विरुद्ध ऐसी कोई बात नहीं थी जो उसे संरक्षक बनाने के लिए अयोग्य कर सके। किन्तु न्यायालय ने यह अनुभव किया कि बालक का कल्याण वित्तीय रूप से और प्यार पाने की दृष्टि से माता के हाथ में सुरक्षित रहेगा। इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने वाले अन्य न्यायिक निर्णय भी हैं जिनसे न्याय का मार्ग प्रशस्त हुआ है। इस स्थिति में यह समुचित होगा कि विधि के पाठ में संशोधन करके यह सुनिश्चित किया जाए कि अवयस्क का कल्याण सर्वोपरि ध्यान में रखा जाएगा।

ऐसे संशोधन से सदा के लिए स्थिति साफ हो जाएगी। इससे वह तर्क नहीं दिया जा[4] सकता कि पिता को ही संरक्षक नियुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि वह अयोग्य नहीं है।

इंग्लैंड की विधि।

6.41. इस संदर्भ में हम अवयस्क के संरक्षक और अभिरक्षक के विषय पर इंग्लैंड की विधि के प्रति निर्देश करेंगे। वहां भी बालक[5] के स्थान पर अवयस्क अभिव्यक्ति का प्रयोग हो रहा है। मुख्य विधान गार्जियनशिप आफ माइनर्स ऐक्ट, 1971 है जिसमें अनुपूर्ति गार्जियनशिप ऐक्ट, 1973 से की गई है। इन अधिनियमों के अतिरिक्त बालकों से सम्बन्धित बहुत से विधान बनाए गए हैं, विशेषकर चिल्ड्रन्स ऐक्ट, 1975।

वे सिद्धान्त जिनके आधार पर अभिरक्षा लालन पालन आदि के प्रश्न विनिश्चित किए जाएंगे 1971[6] के इंग्लैंड के अधिनियम में अधिकथित हैं[6]। यह न्यायिक कार्यवाहियों को लागू होता है और इस प्रकार है :--

"1. **जहां किसी न्यायालय में किसी कार्यवाही में**[7] (चाहे वह इस अधिनियम की धारा 5 में यथापरिभाषित न्यायालय हो या नहीं) --

(क) किसी अवयस्क की अभिरक्षा या लालन-पालन का; या

(ख) किसी अवयस्क की या उसके लिए न्यास पर आधारित किसी सम्पत्ति के प्रशासन का या उसकी किसी आय के उपयोजन का,

मामला प्रश्नगत है तो न्यायालय, उस प्रश्न का विनिश्चिय करने में अवयस्क के कल्याण को सर्वप्रथम और सर्वोपरि ध्यान में रखेगा और इस बात पर विचार नहीं करेगा कि क्या किसी अन्य दृष्टिकोण से पिता का कोई दावा या कामन ला के

---

1. पैरा 6.39 ऊपर।
2. पैरा 6.38 ऊपर।
3. श्रीमती मोहिनी बनाम वीरेन्द्र कुमार ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1359।
4. तुलना कीजिए स्नेहलता बनाम महेन्द्र ए० आई० आर० 1979 राजस्थान 29, 34 पैरा 10 (फरवरी-मार्च)।
5. इंग्लैंड की विधि और उसके विकास पर विस्तृत विचार विमर्श के लिए देखिए परिशिष्ट 3।
6. गार्जियनशिप आफ माइनर्स ऐक्ट, 1971 की धारा 1।
7. मोटे शब्द हमारी ओर से।

किसी हिन्दू अवयस्क के संरक्षक के रूप में न्यायालय द्वारा नियुक्ति किए जाने का दावा कर सकते हैं जब तक कि ऐसी नियुक्ति अवयस्क के कल्याण के लिए न हो। अवयस्क का कल्याण ही सर्वोपरि है। न्यायालय द्वारा अवयस्क की अभिरक्षा दिए जाने के बारे में माता अधिकारपूर्वक यह दावा नहीं कर सकती है कि केवल इस कारण कि अवयस्क की आयु पांच वर्ष से कम है उसे अभिरक्षा दी जानी चाहिए। पिता भी केवल इस आधार पर अभिरक्षा का दावा नहीं कर सकता है कि अवयस्क ने पांच वर्ष की आयु पूरी कर ली है। यह बात धारा 6 से बिल्कुल साफ हो जाती है जिसमें यह उपबन्ध है कि ऐसे अवयस्क की अभिरक्षा जिसने पांच वर्ष की आयु पूरी नहीं की है मामूली तौर पर माता को मिलेगी। और धारा 13 से भी जिसमें अवयस्क के कल्याण के लिए 1890 के अधिनियम की धारा 19 की कठोरता को कम किया गया है। उसमें भी अवयस्क के कल्याण को ही सर्वोपरि माना गया है। इस प्रकार 1956 के अधिनियम द्वारा अंगीकार किया गया दृष्टिकोण 1890 के अधिनियम द्वारा अंगीकार किए गए दृष्टिकोण से भिन्न है। 1890 का अधिनियम पिता के पक्ष में कुछ झुका हुआ है।

आधुनिक समाज-शास्त्रीय विकास और उनकी सुसंगतता।

6.45. इस मतभिन्नता के कारण समझ में आते हैं। संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम 1890, 90 वर्ष पहले बना था। उसको अधिनियमित किए जाने के समय स्त्रियों को बहुत कम अधिकार थे। उस समय सामाजिक और विधिक दृष्टि से वे हीन थीं। पुरुषों का पूर्णतया प्रभुत्व था और आर्थिक दृष्टि से और अन्य रूप में यह वरिष्ठता प्रकट होती थी। इसीलिए 1890 के अधिनियम में पिता या पुरुष के अभिरक्षक नियुक्त किए जाने के मामले में उनका पक्ष लिया गया है[1]। 1956 का अधिनियम इस दृष्टि से प्रगतिशील है।

एक और भी विषय है जिसके बारे में 1956 के अधिनियम ने प्रगतिशील कदम लिया है। स्त्रियों की स्थिति में जो प्रगति हुई है उसे स्वीकार करते हुए और बालक के कल्याण की परिवर्तित संकल्पनाओं पर ध्यान देते हुए अधिनियम में स्त्रियों को संरक्षकता का अधिकार (पिता के बाद) दिया है और यह उपबन्धित किया है कि सामान्यतया माता को अवयस्क बालक की अभिरक्षा पांच वर्ष की आयु तक मिलेगी। इससे भी अधिक महत्व का उपबन्ध यह है कि संरक्षक की नियुक्ति में अवयस्क के कल्याण को सर्वोपरि माना गया है[2]। यद्यपि 1890 के अधिनियम की धारा 17 में उल्लिखित "अप्राप्तवय का कल्याण" की संकल्पना को बिना उसका अर्थ स्पष्ट किए अपना लिया गया।

वर्तमान परिस्थितियां 1980 या 1956 से भिन्न हैं।

6.46. 1956 के अधिनियम ने जो प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया है वह स्वागत-योग्य है किन्तु इस बारे में कुछ और कहना उचित होगा। आज जो सामाजिक परिस्थितियां हैं वे उन परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न हैं जो 1890 में या 1956 में थीं। सामाजिक न्याय का ध्येय उन शर्तों पर ध्यान देता है जो कौटुम्बिक सम्बन्धों को उन दुर्गुणों से बचाते हैं जिनके कारण मनुष्य का शोषण होता है और स्त्रियों को विधिक और सामाजिक दृष्टि से हीन बनाया जाता है। अब जीवन के सभी क्षेत्रों में स्त्री और पुरुषों में समानता है। कुटुम्ब का सामाजिक महत्व अब स्वीकार किया जा रहा है। कुटुम्ब को ऐसी इकाई होना चाहिए जिससे मनुष्य के गुणों का प्रवर्धन हो सके और व्यष्टि का पूर्ण विकास हो सके। माता-पिता का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों को स्वस्थ्य, सुखी और उपयोगी व्यष्टि के रूप में बड़ा करें और उनकी शिक्षा इस प्रकार हो कि वे समाज के निर्माता के रूप में सामने आ सकें। संरक्षकों का यह कर्तव्य है कि वे बालक के विकास को निश्चित करें और उसके हित की रक्षा करें। बालक के लिए संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय को यह अवधारित करना है कि दावेदारों में से कौन सा अपनी शिक्षा, योग्यता, और प्रभाव के कारण और अपने स्वयं के उदाहरण के कारण बालक के लालन-पालन में आवश्यक देखभाल कर सकेगा।

---

1. धारा 19।
2. हिन्दू अप्राप्तवय और संरक्षक अधिनियम, 1956 की धारा 13।

पेंशन" में होती है (जिसे पहले चांसरी डिविज़न कहते थे) अभिरक्षा के लिए आवेदन ऐसी कार्यवाही है जिसमें स्वतंत्रता का प्रश्न अन्तर्वलित नहीं होता बल्कि लालन-पालन, नियंत्रण और शिक्षा का प्रश्न होता है[1]।

दूसरा प्रश्न—"अवयस्क का कल्याण" का विवेचन।

6.42. अब पहला प्रश्न समाप्त हो जाता है। ऊपर बताए गए दूसरे प्रश्न के बारे में[2] (बालक का कल्याण) 1890 के अधिनियम की धारा 17(2) यह बताती है कि वे विषय कौन से हैं जिन पर न्यायालय संरक्षक की नियुक्ति करते समय ध्यान देगा और यह देखेगा कि वह अवयस्क के कल्याण के लिए है या नहीं। यह विषय हैं अवयस्क की आयु, लिंग और धर्म और प्रस्थापित संरक्षक का ऐसे अवयस्क या उसकी सम्पत्ति से पूर्ववर्ती सम्बन्ध। ये ऐसे विषय हैं जो अवयस्क से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित हैं। यदि अवयस्क इतना बड़ा है कि वह बुद्धि लगाकर अपनी ओर से चुनाव कर सकता है तब ऐसे चुनाव पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

1956 के अधिनियम और उसका 1890 के अधिनियम से सम्बन्ध।

6.43. 1890 के अधिनियम में इस बारे में कोई उपबन्ध नहीं है कि अभिरक्षा के लिए माता-पिता में से किसको अधिमान दिया जाना चाहिए। यद्यपि इसमें ऐसा उपबन्ध है[3] जिसके अधीन अभिरक्षा का प्रश्न न्यायनिर्णयन के लिए उठ सकता है।

इस सन्दर्भ में हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की ओर ध्यान देना उचित होगा क्योंकि उसका उपबन्ध कुछ बातों में इससे भिन्न है। यह अधिनियम, 1890 के अधिनियम का अनुपूरक है और 1956 के अधिनियम में यदि अभिव्यक्ततः उपबन्धित नहीं है तो उसके अल्पीकरण में भी नहीं है[4]। जहां 1956 का अधिनियम मौन है वहां 1890 का अधिनियम लागू होता है। किन्तु कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर 1956 का अधिनियम मौन नहीं है और विनिर्दिष्ट उपबन्ध करता है। यहां 1956 के अधिनियम की धारा 6 और 13 विशेष रूप से सुसंगत हैं। धारा 6 के अनुसार हिन्दू अवयस्क का नैसर्गिक संरक्षक उसका पिता है और पिता के बाद माता। (यहां माता का विनिर्दिष्ट उल्लेख ध्यान देने योग्य है)। पिता की संरक्षकता इस परन्तुक के अधीन है कि ऐसे अवयस्क की अभिरक्षा जिसने पांच वर्ष की आयु पूरी नहीं की है मामूली तौर पर माता को मिलेगी। यह उपबन्ध उस तीसरे प्रश्न के सम्बन्ध में महत्व का है जो हमने उपस्थित किया है[5]।

धारा 13 में यह उपबन्ध है कि न्यायालय द्वारा किसी हिन्दू अवयस्क के संरक्षक के रूप में किसी व्यक्ति की नियुक्ति के लिए अवयस्क का कल्याण ही सर्वोपरि ध्यान में रखा जाएगा। यह ध्यान देने योग्य है कि संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 17(1) में "अप्राप्तवय का कल्याण" का उल्लेख करते हुए भी उसके कल्याण को संरक्षक की नियुक्ति के लिए ध्यान में रखने के लिए सर्वोपरि बात नहीं कहा गया है।

1956 के अधिनियम की धारा 6 और 13 का प्रभाव।

6.44. यदि 1956 के अधिनियम की धारा 6 और 13 एक साथ पढ़ी जाती हैं—जैसा कि होना चाहिए तो यह दिखाई पड़ेगा कि न तो पिता और न ही माता, साधिकार,

---

1. **बर्नार्डो बनाम मैकहुग** (1891), 1 क्यू० बी० 194, 203 (लार्ड इशर एम० आर०)।
2. पैरा 6.39 ऊपर।
3. धारा 25।
4. 1956 के अधिनियम की धारा 2।
5. पैरा 6.39, आगे।
6. धारा 13 के पाठ के लिए देखिए आगे।
7. पैरा 6.42 आगे।

संरक्षक से समय-समय पर रिपोर्ट मांगने का अधिकार होना चाहिए। ये रिपोर्ट अवयस्क के स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण के बारे में होगी। रिपोर्टों के दिए जाने की अवधि प्रत्येक मामले की परिस्थिति के अनुसार नियत की जा सकती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 17 में दी गई उपधाराएं अन्तःस्थापित की जाएं जो इस प्रकार हों,[1] —

"(6) न्यायालय यह अपेक्षा कर सकेगा कि इस धारा के अधीन संरक्षक के रूप में नियुक्त या घोषित व्यक्ति या वह व्यक्ति जिसे इस अधिनियम के अधीन अप्राप्तवय की अभिरक्षा सौंपी गई है न्यायालय को ऐसे अन्तराल पर जो न्यायालय मामले की परिस्थितियों में ठीक समझे, अप्राप्तवय के स्वास्थ्य और शिक्षा के बारे में तथा ऐसे अन्य मामलों के बारे में जो उसके कल्याण से सम्बन्धित हों और जो न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट किए जाएं कालिक रिपोर्ट देगा।

(7) उपधारा (6) के अधीन रिपोर्टों की प्राप्ति पर न्यायालय उन पर यथासम्भव शीघ्र विचार करेगा और उन्हें देने वाले संरक्षक या अन्य व्यक्ति को ऐसे निदेश जारी करेगा जो न्यायालय अप्राप्तवय के हित में ठीक समझे।"

1956 के अधिनियम की धारा 6 का संशोधन करने की सिफारिश।

6.50. चौथे प्रश्न पर विचार करते समय हमारा यह मत है कि हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 का भी संशोधन किया जाना चाहिए[2] जिससे कि माता को अप्राप्तवय की अभिरक्षा तब तक मिले जब तक कि मामूली तौर पर वह अप्राप्तवय बारह वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता[3]। हमारे इस दृष्टिकोण के कारण संक्षेप में इस प्रकार है :— बारह वर्ष की आयु की अवधि बालक के जन्म में गढ़े जाने की अवधि होती है। इन निर्माण के वर्षों में बालक धैर्य, ईमानदारी, दूसरों की सहायता करना, दूसरों का सम्मान करना आदि गुणों का विकास करता है। इन वर्षों में बालक जो शिक्षा प्राप्त करता है वह इस प्रकार होनी चाहिए कि वह उच्च बौद्धिक और नैतिक स्तर प्राप्त कर सके जिससे वह राज्य और समाज के विकास में सक्रिय भूमिका निभा सके। इस बात के बारे में विवाद नहीं हो सकता कि माता का प्रभाव बालक के शील और गुणों पर पड़ता है। बालक वही होता है जो उसकी मां उसे बनाती है। पिता की देखभाल से बालक के हृदय या जीवन में उतना परिवर्तन नहीं आ सकता। नेपोलियन ने कहा था कि बालक का भविष्य उसकी मां की अंधकारिता होती है।

अभिरक्षा के बारे में संशोधन की आवश्यकता।

6.51. 1956 के अधिनियम में अभिरक्षा के बारे में जो उपबन्ध है उसका विधायी इतिहास रोचक है।[4] यद्यपि नैसर्गिक संरक्षक के रूप में माता का स्थान पिता के बाद में है फिर भी अधिनियम में यह अधिकथित है कि पांच वर्ष की आयु तक अप्राप्तवय की अभिरक्षा मामूली तौर पर माता को सौंपी जाएगी। मूल विधेयक में प्रस्थापित आयु तीन वर्ष थी किन्तु प्रवर समिति ने इसे बढ़ाकर पांच वर्ष कर दिया।[5] इस वृद्धि से भी बहुत से लोग सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ संसद् सदस्यों का विचार था कि इस आयु को और बढ़ाया जाना चाहिए। प्रवर समिति के एक सदस्य[6] यह चाहते थे कि अप्राप्तवय की अभिरक्षा माता के पास तब तक रहे जब तक वह वयस्क न हो जाए। एक अन्य सदस्य इसे बढ़ाकर 12 वर्ष करना चाहते थे। दो अन्य सदस्य तो इसे बढ़ाकर दस और तेरह वर्ष करना चाहते थे। हमारा प्रस्ताव[7] कि अभिरक्षा की आयु बारह वर्ष कर दी जाए नया नहीं है।

---

1. यदि यह उचित समझा जाए तो इस विषय पर अलग धारा में विचार किया जा सकता है जो प्रक्रियात्मक उपबन्धों में अन्तःस्थापित की जाए जैसे धारा 43क।
2. यह हिन्दू अप्राप्तवय और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 में किया जाएगा।
3. देखिए पैरा 6.47।
4. पैरा 6.45।
5. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता विधेयक की संयुक्त समिति की रिपोर्ट (मार्च, 1955) खण्ड 5।
6. उदाहरणार्थ श्रीमती सीता परमानन्द (संशोधनों की सूची)।
7. पैरा 6.50।

पिता को बालक का उपयोग कठपुतली के रूप में करने से रोका जाना।

6.47. कल्याण, शिक्षा और बालक का विकास इन विचारों के अतिरिक्त जो कम से कम बारह वर्ष की आयु तक बालक की अभिरक्षा का अधिकार माता को देने के पक्ष में है[1] यह अवश्यक है कि यह अधिकार माता को इसलिए दिया जाए कि पिता बालक का उपयोग माता से समर्पण कराने के लिए हथियार के रूप में न करे। क्योंकि हो सकता है कि माता स्वतंत्र हो और पिता की योजनाएं प्रशंसनीय न हों। इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि जहां पति ने अपने माता-पिता या बहनों के कहने पर या अपने मन से इस तरीके को अपनाया है। जबकि पत्नी अपने पति से चाहती है कि वह अपना घर लेकर अलग रहे, या जब पत्नी ने अपनी सास की सेवा ठीक से नहीं की है या फिर बहुत सा का दहेज नहीं लेकर आई है। ऐसे मामलों में पति अपनी पत्नी को उसके मैके भेज देता है और बालक को अपनी अभिरक्षा में रखता है। ऐसे उदाहरण विवाह के प्रारम्भ के वर्षों में बहुत होते हैं[2]। जबकि बालक अवयस्क होता है। यह भविष्यवाणी करना अनुचित नहीं होगा कि विवाह और विवाह-विच्छेद की विधियों को उदार बनाए जाने पर और दहेज विरोधी अधिनियम बन जाने पर बालक का हथियार के रूप में उपयोग उन पतियों द्वारा अधिक किया जाएगा जिनका विवाह सफल नहीं रहा है और जो परिस्थिति का लाभ उठाकर किसी भी प्रकार अपना उद्देश्य प्राप्त करना चाहते हैं। यह सभी विचार उन प्रश्नों के लिए तात्विक हैं जो हमने अपने सामने रखे हैं[3]।

1980 के अधिनियम की धारा 17 का संशोधन करने की सिफारिश।

6.48. हमने ऊपर जो कहा है उसके प्रकाश में हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 17 की उपधारा (1) के स्थान पर निम्नलिखित उपधारा रख दी जाए :--

"(1) अवयस्क के संरक्षक की नियुक्ति या घोषणा करने में अवयस्क के कल्याण को सर्वोपरि ध्यान में रखा जाएगा।

(1क) उपधारा (1) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, न्यायालय अवयस्क के संरक्षक को नियुक्त या घोषित करते समय उस विधि का सम्यक् ध्यान रखेगी जिसके अधीन अवयस्क है।

इस उपधारा में कोई बात हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 13 के उपबन्धों को प्रभावित नहीं करेगी।"

धारा 17 की उपधारा (2) के स्थान पर निम्नलिखित उपधारा रखी जाएगी :—

"(2) यह विचार करने में कि अप्राप्तवय के लिए क्या कल्याणकारी होगा, न्यायालय अप्राप्तवय की आयु, लिंग और धर्म, प्रस्थापित संरक्षक के शील और सामर्थ्य, उसकी शैक्षणिक योग्यता और अप्राप्तवय को सभी प्रकार से शिक्षित, स्वतंत्र, सुखी और उपयोगी व्यष्टि बनाने का सामर्थ्य और अप्राप्तवय से रक्त सम्बन्ध में उसकी निकटता, और अप्राप्तवय से या उसकी सम्पत्ति से प्रस्थापित संरक्षक के किसी वर्तमान या पूर्वतन सम्बन्धी को ध्यान में रखेगा।

(2क) यदि मृत जनक ने कोई इच्छा प्रकट की हो तो उस पर भी विचार किया जाएगा, किन्तु इस प्रकार नहीं कि उपधारा (2) में उल्लिखित उसके अधीन हों।"

नई उपधाराओं का अन्तःस्थापन— कालिक रिपोर्ट।

6.49. हमने अभी तक धारा 17 के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्नों में से दो पर ही विचार किया है। तीसरा प्रश्न प्रक्रिया से सम्बन्धित है[3]। हमारी राय में न्यायालय को

---

1. देखिये आगे पैरा 6.50।
2. हरिहार प्रसाद बनाम सुरेश ए० आई० आर० 1978 ए० पी० 13 में तथ्यों की तुलना कीजिए।
3. पैरा 6.39।

6.55. अब हम 1890 के अधिनियम की धारा 18 पर आते हैं। इसमें यह उपबंध है कि जहां कि कलक्टर अपने पद के आधार पर अप्राप्तवय के शरीर या सम्पत्ति या दोनों का संरक्षक होने के लिए न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित किया जाता है, वहां उसकी नियुक्ति या घोषणा करने वाला आदेश वह पद तत्समय धारण करने वाले व्यक्ति को यथास्थिति अप्राप्तवय के शरीर या सम्पत्ति, या दोनों के बारे में अप्राप्तवय के संरक्षक के तौर पर कार्य करने का प्राधिकृत और अपेक्षित करने वाला समझा जाएगा। विशेषतः यह इस सिद्धांत से निकलता है कि उसे कलक्टर[1] के रूप में अपनी हैसियत में नियुक्त किया जाता है। धारा 18।

इस धारा को जैसी है वैसी ही रहने दिया जाए।

6.56. कौन से व्यक्ति संरक्षक के रूप में नियुक्त किए जा सकते हैं इसके बारे में हमने पहले ही इस आवश्यकता के प्रति निर्देश[2] किया है कि विधिक व्यक्तियों की नियुक्ति के बारे में स्थिति को साफ कर दिया जाना चाहिए। हमारा मत यह है कि इस विषय में विनिर्दिष्ट उपबंध होना चाहिए। साथ ही अवयस्क की सम्पत्ति के उचित प्रबंध और उसकी उचित देखभाल के लिए कुछ सुरक्षाएं भी वांछनीय हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 18क के रूप में निम्नलिखित नई धारा अन्तःस्थापित की जाए:— विधिक व्यक्ति की संरक्षक के रूप में नियुक्ति।

"18क. यदि किसी व्यष्टि को संरक्षक के रूप में नियुक्त करना सम्भव नहीं है तो न्यायालय अप्राप्तवय की सम्पत्ति या शरीर या दोनों के लिए संरक्षक के रूप में ऐसे व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है जो व्यष्टि नहीं है परन्तु ऐसा व्यक्ति ऐसी संस्था या संगठन है जो इस धारा के प्रयोजनों के लिए राज्य सरकार द्वारा राजपत्र में या अधिसूचना द्वारा मान्यताप्राप्त है। और जो अपने संविधान द्वारा ऐसी संरक्षकता ग्रहण करने के लिए सशक्त है।"

VI. संरक्षक की नियुक्ति के लिए निर्बन्धक

6.57. साधारणतया संरक्षक नियुक्त करने की न्यायालय की शक्ति पर कोई निर्बन्धन नहीं होना चाहिए, जहां ऐसी नियुक्ति अवयस्क के कल्याण के लिए आवश्यक है। फिर भी विधान मण्डल ने यह उचित समझा है कि धारा 19 में उल्लिखित विशेष मामलों में न्यायालय द्वारा नियुक्ति का प्रतिषेध किया जाए। यह धारा भागतः संरक्षकता की साधारण विधि (1890 का अधिनियम) और कोर्ट आफ वार्ड्स से सम्बंधित विशेष विधियों के परस्पर विरोध को रोकने के लिए है। प्रारंभिक पैरा और इस धारा के खंड (ग) को इस आधार पर सुलझाया जा सकता है। इस धारा का दूसरा भाग इस उपधारणा पर आधारित है कि वैयक्तिक विधि के अनुसार विवाहित अवयस्क स्त्री का पति और अवयस्क का पिता अवयस्क के शरीर के संरक्षक होते हैं और इस संरक्षकता में तब तक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि संरक्षक योग्य न हो। खण्ड (क) और (ख) इन्हीं उपधाराओं पर आधारित हैं। वैयक्तिक विधि पर आधारित यह उपधारणा कहां तक ठीक है और कहां तक विधान मण्डल की ऐसी संरक्षकता में हस्तक्षेप न करने की नीति बदली हुई परिस्थितियों में बनी रहनी चाहिए इस पर हम आगे विचार करेंगे। इस धारा को उद्धरित करना सुविधाजनक रहेगा। धारा 19 इस प्रकार है:— धारा 19—कुछ मामलों में न्यायालय द्वारा संरक्षक को नियुक्त न किया जाना।

"19. इस अध्याय की कोई भी बात न्यायालय को प्राधिकृत न करेगी कि वह ऐसे अप्राप्तवय की, जिसकी सम्पत्ति प्रतिपाल्य अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है, सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे, अथवा—

1. **नरसिंहराव राव बनाम लक्ष्मणराव राय** (1876) आई० एल० आर० 1 बम्बई 318, 320. (बाम्बे माइनर्स ऐक्ट, 1864 की धारा 11–15 के अधीन निर्णय)।
2. देखिए पैरा 5.6।

इंग्लैंड की विधि।

6.52. इंग्लैंड में इस प्रश्न के बारे में जो विधि संबंधी विकास है उस पर अब हम ध्यान देंगे। इंग्लैंड में 1839 में माता को सात वर्ष की आयु तक बालकों की अभिरक्षा का अधिकार दिया गया था। बाद में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बनाए गए विधान के अनुसार[1] (गार्जियनशिप आफ इन्फेंट्स ऐक्ट, 1886) माता को सोलह वर्ष की आयु तक बालकों की अभिरक्षा पाने का अधिकार सौंपा गया। 1925 के अधिनियम की धारा 1 द्वारा गार्जियनशिप आफ इन्फेंट्स ऐक्ट, 1886 के उपबंधों को विस्तारित कर दिया गया और यह अधिकथित किया गया कि अभिरक्षा, देखभाल और संरक्षकता के बारे में माता के अधिकार पिता के बराबर होंगे और बालक का कल्याण सर्वोपरि ध्यान में रखा जाएगा। उसमें यह उपबंध भी किया गया कि न्यायालय इस बात पर ध्यान नहीं देगा कि क्या बालक के कल्याण के अतिरिक्त किसी दृष्टि से अभिरक्षा, लालन-पालन आदि के बारे में पिता का दावा माता की अपेक्षा वरिष्ठ है या माता का दावा पिता की अपेक्षा वरिष्ठ है। 1973 के अधिनियम में बालकों से संबंधित विषयों में स्त्री-पुरुषों के बीच पूरी समानता बना दी गई है।

कच्ची उम्र के बालक की देखभाल के लिए माता की आवश्यकता।

6.53. बारह वर्ष से कम आयु के बालक को कोमल प्यार की आवश्यकता होती है और उसे अपनी मां के साथ की आवश्यकता होती है। न तो पिता और न ही कुटुम्ब के अन्य नातेदार वे चाहे निकट या सहानुभूति रखने वाले क्यों न हों अप्राप्तवय की माता की अधिकारिता का स्थान ले सकते हैं। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि शारीरिक आवश्यकताएं और सुविधाएं ही बालक के उचित और स्वस्थ विकास के लिए पर्याप्त नहीं होते। इस प्रयोजन के लिए माता-पिता का प्यार अपरिहार्य है और जब बालक बारह वर्ष से कम आयु का है तब माता और पिता में असहमति होने पर माता को बालक की अभिरक्षा के लिए अधिमान दिया जाना चाहिए। इन कारणों से हम यह सिफारिश करते हैं कि 1956 के अधिनियम में उस आयु के बारे में संशोधन किया जाना चाहिए।[2] जिस तक अभिरक्षा सामान्यतया माता को सौंपी जाए।

प्रारम्भ में सामने रखे गए प्रश्नों का निपटारा।

6.54 अब हम सुविधा के लिए संक्षेप में यह अभिलिखित करेंगे कि हमारी सिफारिशों से उन प्रश्नों का कैसे निपटारा होता है जो हमने धारा 17 पर विचार-विमर्श प्रारंभ करते समय अपने सामने रखी थी[3] :—

(i) पहले प्रश्न पर (प्रत्येक विचारणीय बात का आपेक्षक महत्व, हमने प्रगतिशील तत्व चुना (अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि होगा) और 1890 के अधिनियम में उसके सम्मिलित किए जाने की सिफारिश की है।

(ii) दूसरे प्रश्न पर "अप्राप्तवय का कल्याण" (की संकल्पना को साबित करने के बारे में) हमने यह उचित समझा है कि 1890 के अधिनियम की धारा 17 में कुछ जोड़ दिया जाए। (यह संशोधन 1956 के अधिनियम को भी लागू होगा)[4]।

(iii) तीसरे प्रश्न पर (प्रक्रिया) हमने 1890 के अधिनियम में कुछ सुधार की सिफारिश की है।

(iv) चौथे प्रश्न पर (अभिरक्षा) हमने 1890 के अधिनियम में संशोधन करके आयु को बारह वर्ष करने की सिफारिश की है।

---

1. देखिए परिशिष्ट 3।
2. पैरा 6.50।
3. पैरा 6.39।
4. तुलना कीजिए हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 2।

संरक्षक की नियुक्ति या घोषणा के सम्बन्ध में है जबकि धारा 25 संरक्षकता के केवल एक पहलू के बारे में है अर्थात् अभिरक्षा। स्पष्टता के लिए यह वांछनीय है कि यह बता दिया जाए कि अवयस्क का कल्याण ही सर्वोपरि है।

6.61. ऐसा नहीं है कि सभी मामलों में जहां पिता योग्य नहीं है बालक की अभिरक्षा पिता को ही दी जानी चाहिए।[1] बालक का कल्याण ही सर्वोपरि है[2]। धारा 26 के अधीन कल्याण का सर्वोपरि होना।

सही दृष्टिकोण केरल के हाल ही के एक मामले में अपनाया गया है[3] जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि सर्वोपरि ध्यान में रखने की बात बालक का कल्याण है और माता-पिता की ऊंची स्थिति की बात करना या बालक की अभिरक्षा के लिए उनके अनन्य अधिकार की बात करना उचित नहीं है जबकि विचारणीय बात बालक का कल्याण है। इस तथ्य का कि पिता अयोग्य नहीं पाया गया यह अर्थ नहीं है कि उसे बालक की अभिरक्षा का हक है।

उच्चतम न्यायालय ने[4] इस स्थिति को एक निर्णय में बहुत स्पष्ट कर दिया है। उस पर हम बाद में विचार करेंगे[5]। उच्चतम न्यायालय ने यह कहा था:

> "अभी उल्लिखित दृष्टिकोण से पिता का योग्य होना अवयस्क बालक के कल्याण पर अभिभावी नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि अधिनियम में साधारणतया यह उपधारणा है कि पिता बालक की देखभाल करने के लिए अधिक उपयुक्त है क्योंकि सामान्यतया वही कमाने वाला और कुटुम्ब का मुखिया होता है किन्तु न्यायालय का प्रत्येक मामले में अभिरक्षा के प्रश्न का अवधारण करते समय सबसे पहले बालक के कल्याण को देखना होता है। इस पर उनके स्वास्थ्य, भरण-पोषण और शिक्षा से संबंधित सभी बातों की पृष्ठभूमी पर विचार होना चाहिए। कुटुम्ब समाज का हृदय है और बालकों के संतुलित और स्वस्थ विकास के लिए यह वांछनीय है कि उन्हें अपने माता-पिता के घर में माता और पिता दोनों से प्यार मिले और ठीक देखभाल हो।"

6.62. उच्चतम न्यायालय ने यह टिप्पणी ऐसे विवाद के सम्बन्ध में की जो पिता और माता के बीच उनके अवयस्क पुत्र की अभिरक्षा के बारे में उत्पन्न हुआ था। हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 13 इस बारे में अधिक साफ है और उसमें स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है :— 1956 के अधिनियम की धारा 13(2)।

> "(2) यदि किसी भी व्यक्ति के विषय में न्यायालय की यह राय हो कि उसके संरक्षक होने में अप्राप्तवय का कल्याण न होगा तो वह व्यक्ति इस अधिनियम के उपबन्धों के आधार पर या ऐसी किसी भी विधि के आधार पर, जो हिन्दुओं में विवाहार्थ संरक्षकता के बारे में हो, संरक्षकता का हकदार न होगा।"

6.63. **चन्द्र प्रभा बनाम प्रेमनाथ**[6] में दिल्ली उच्च न्यायालय ने पांच वर्ष से कम आयु के पुत्र की अभिरक्षा माता को देते हुए यह सम्प्रेक्षण किया था :— निर्णयजनित विधि।

> "हमारी राय में पांच वर्ष से कम आयु के बालक को माता के स्नेह, कोमल हाथ और संग की आवश्यकता होती है। न तो पिता और न ही उसकी कोई स्त्री सम्बन्धी

---

1. **बाबूभाई पटेल बनाम माधवी पटेल** (1979) 1 एम० एल० जे० 244, 250, पैरा 13।
2. **अनुन्निसा बनाम मुख्तार अहमद** ए० आई० आर० 1975 आल० 67 (निर्णयों का पुनर्विलोकन किया गया)।
3. **सबस्तियान बनाम थोमस** (1979) केरल ला टाइम्स 536, 537 (30 जुलाई/1979)।
4. **रोजी जैकब बनाम जैकब** ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2090, 2100 (1973)। एस०सी०सी० 840।
5. पैरा 7.16।
6. **चन्द्र प्रभा बनाम प्रेमनाथ** ए०आई०आर० 1969 दिल्ली 283।

(क) उस अप्राप्तवय के, जो विवाहिता नारी है और जिसका पति न्यायालय की राय में उसके शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, अथवा

(ख) उस अप्राप्तवय के, जिसका पिता जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, अथवा

(ग) उस अप्राप्तवय के, जिसकी सम्पत्ति उसके शरीर का संरक्षक नियुक्त करने के लिए सक्षम प्रतिपाल्य अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है,

शरीर का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे।"

धारा 19 का विश्लेषण।

6.58. धारा 19 निम्नलिखित के बारे में निर्बन्धन लगाती है—

(1) वे मामले जिनमें सम्पत्ति के संरक्षक की नियुक्ति नहीं की जा सकती; और

(2) वे मामले जिनमें शरीर के लिए संरक्षक की नियुक्ति नहीं की जा सकती।

सम्पत्ति के बारे में संरक्षक की नियुक्ति या घोषणा को तभी रोका जाता है जब अप्राप्तवय की सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड्स के अधीक्षण के अधीन है। हमें इस धारा के इस भाग के बारे में कोई विशेष टिप्पणी नहीं करनी।

अप्राप्तवय के शरीर के बारे में तीन निर्बन्धन हैं जो खंड (क), (ख) और (ग) में दिए हैं। यहां भी खंड (क) ऐसे अप्राप्तवय के बारे में है जिसकी सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड्स के संरक्षण में है। इस बारे में किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। किन्तु खंड (ख) और (ग) विचारणीय हैं। हम पहले उन बातों पर विचार करेंगे जो सम्पूर्ण धारा या उसके मुख्य भाग के लिए सुसंगत हैं और फिर विशेष खंडों के बारे में जो बातें हैं उन पर विचार करेंगे।

या तो धारा 19 को निकाल दिया जाए या उसे धारा 17 के अधीन किया जाए।

6.59. पहला और सर्वाधिक महत्व का प्रश्न यह है कि धारा 19 के कितने भाग को रहने दिया जाए। इस संबंध में हम अपने उस दृष्टिकोण को फिर से सामने रखेंगे[1] कि संरक्षक नियुक्त करने की कार्यवाही में अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि ध्यान रखा जाना चाहिए। धारा 17 इस विचार के प्रकाश में और हमारे द्वारा सिफारिश किए गए संशोधन को ध्यान में रखते हुए इस बात के लिए आशयित है कि न्यायालय का विवेक किसी भी प्रकार से बंधा हुआ न रहे या कम से कम अन्य बातें अप्राप्तवय के कल्याण के अधीनस्थ हो जाएं। इसके विपरीत धारा 19 का उद्देश्य कुछ विषयों के बारे में न्यायालय के विवेक को सीमित करना है। जहां कोर्ट आफ वार्ड्स है वहां उसे विशेष स्थिति माना जा सकता है किन्तु अन्य बातों के बारे में धारा 19 में जो निर्बन्धन हैं उसे उपान्तरित किया जाना चाहिए।

इस परिस्थिति में एक अनुकल्प तो यह होगा कि धारा 19 को निकाल दिया जाए। किन्तु यदि यह मार्ग क्रान्तिकारी है या किसी अन्य कारणवश स्वीकार नहीं किया जा सकता है तो कुछ अन्य उपान्तर किए जाने चाहिए जिससे धारा 19 धारा 17 के अध्यधीन हो जाए और उसमें कुछ ऐसे सुधार हो जाएं जो आवश्यक प्रतीत होते हैं।

धारा 19 को धारा 25 के अध्यधीन बनाया जाना।

6.60. एक महत्वपूर्ण उपान्तर करना इसलिए आवश्यक है कि धारा 25 से इसका समन्वय हो जाए धारा 25 जो अप्राप्तवय की अभिरक्षा के आवेदनों के बारे में है अप्राप्तवय के कल्याण को सर्वोपरि मानती है। धारा 25 में यह अभी भी उल्लिखित है और हम धारा 25 पर विचार करते समय इस पहलू पर बल देना चाहते हैं[2]। इसमें सन्देह नहीं कि धारा 19

1. देखिए धारा 15 के बारे में विचार-विमर्श पैरा 6.40 से पैरा 6.48।
2. देखिए धारा 25 के बारे में विचार-विमर्श पैरा 7.16 से 7.19।